गद्य-पथ

श्री सुमित्रानंदन पंत

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५२ ईस्वी

तीन रुपया

मुद्रक:—राम आसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

डा० धीरेन्द्र वर्मा को

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

विज्ञापन

गद्य-पद्य मेरे निबधो का सग्रह है। प्रथम खड मे मेरे काव्य ग्रथो की प्रस्तावनाएँ, द्वितीय खड म अधिकतर, आकाश वाणी से प्रसारित मेरी वार्ताएँ है। वीणा मे जो भूमिका केवल सक्षिप्त रूप मे प्रकाशित हुई है वह प्रस्तुत सकलन मे अपने पूर्व कल्पित रूप मे जा रही है।

इस सामग्री को पुस्तकाकार एकत्र करवाने का श्रेय साहित्य भवन के उत्साही प्रकाशनाध्यक्ष श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी को है।

टैगोर टाउन,
१० फरवरी ५३ ई०

श्री सुमित्रानंदन पंत

विषय सूची

विषय			पृष्ठ

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१६	की	को
१६	१२	प्रभावित	प्रधावित
२१	१७	हन	हम
२१	२७	बल	बल से
२४	८	उसमें	उसके
३२	२१	तरह	तरह तरह
३३	३	और सखी,	सखी और
३३	२७	चौपाई	चौपई
३४	२६	भावना की	भावना को
३५	३	बनाता	बनाती
३५	११	कमर की	कमर को
३५	२६	उज्जवल	उज्वल
३७	१६	रहता	रहता है
३७	१८	देख	देखा
४५	६	विघातु	विभातु
४६	१८	जिनका	जिसका
४६	२५	की हुई	किए हुई
४७	१	उठाई	उठाए
४८	१३	प्रसाद	प्रासाद
४६	७	जातिय	जातीय
५०	१७	तेरी	मेरी
५१	१०	वाली	वाले
५३	१६	ऐन्द्रिक	ऐन्द्रयिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	६	सौन्दर्य को	सौन्दर्य की
५५	२०	उनके	उसके
५५	२५	प्राणत्व	प्राण तत्व
५६	२	प्रकाशन	प्रकाश
५६	१५	अकाक्षाओ	आकांक्षाओ
५६	१७	ने	से
५६	२४	के सबध मे	मे सबध
५७	१२	बताने	बनाने
५७	१८	आदशों	आदर्शों
५८	१२	एकता की	एकता के
५८	१८	मनुष्य	मनुष्यों
५९	३	का मुक्त	को मुक्त
५९	३	यत्र युग का	यत्र युग की
५९	६	मिलता	मिलती
५९	७	आने वाले	आने वाला
५९	१३	प्रास्थों	प्रास्था
५९	२४	परिणन	परिणति
६०	८	आ'यात्मिक	आध्यात्मिक
६६	८	जिमको	जिसकी
६६	२५	दर्शन	दर्शन के
७०	१	औौर	आर
७१	२	पृथ्वी का	पृथ्वी के
७३	२६	नीलिका	नीलिमा
७५	१८	सका	सकी
७७	१	जीव	जीवन
८२	८	मूख्य	मुख्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३	२	की	को
८४	३	इन	इस
८७	२५	रस	इस
८६	१४	उधर	इधर
६१	१	हप्रारे	हमारे
६६	२	इन	इस
६७	८	तभा	तथा
६७	२२	नेतिक	नैतिक
६६	३	फो	को
१०६	१६	पास	पाश
१११	१	से	मे
११५	२	हिमाल	हिमालय
११५	२३	मेरे	मेरी
१२१	१०	जग जड़	जड़
१२१	२६	एकाकी	एकागी
१२१	२७	एकाकी	एकांगी
१२२	६	एंद्रियक	एंद्रयिक
१६३	१	ग्राम्य	ग्राम्या
१७४	२२	Camforted	Comforted
१७५	२२	वह	मन
१८३	१०	मूल्य	मूल
१८२	२४	ह्वास	ह्रास
१८७	१३	वैचित्र	वैचित्र्य
१६३	८	के ऊपर	स ऊपर
१६६	२१	तुच्छ	कृच्छ
१६७	२३	अनुष्य	मनुष्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०२	१८	मान	ज्ञान
२०२	१६	ज्ञान	मान
२०३	२१	भेरा	मेरा
२०५	६	अंतस्थल	अतस्तल
२१३	२०	भेरी	मेरी

इनके अतिरिक्त विराम चिह्नों की अशुद्धियाँ पाठक कृपा कर स्वय शुद्ध कर लें।

प्रथम खण्ड

प्रवेश

(क)

हिन्दी-कविता की नीहारिका, सम्प्रति, अपने प्रेमियो के तरुण-उत्साह के तीव्र-ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश मे अत्यन्त-वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पडते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश सग्रहीत नही कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति मे अपने लिए नियमित-पन्थ खोज सके, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित्-सिद्धान्त निर्धारित कर ले, ऐसी दशा मे कहा नहीं जा सकता कि यह अस्त व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित-वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य मे किस स्वस्थ-स्वरूप मे घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा, हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा, हमारे प्रभात मे कितना सोना होगा, रात मे कितनी चाँदी !

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात-परिधि पर निर्भर न रह कर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है, जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नही पहुँचता था, वह उसे चिपटी मान कर भी चलता रहा, हम अपने प्रौढ-पगो के लिए नहीं ठहरते, घुटनो के बल चलने के नियमो को सीख कर ही आगे बढते हैं। सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नहीं छोड़ सकते।

अब ब्रजभाषा और खड़ी-बोली के बीच जीवन-सग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार-मा के गर्भ से जो यह ओजस्विनी-कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी मे विद्युत है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह "पिय" को "प्रिय" कहने लगी है। उसका किशोर-कण्ठ फूट गया, अस्फुट अङ्ग कट-छँट गये, उनकी अस्पष्टता मे एक स्पष्ट-स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल-तथा उन्नत हो गया; पदो की चञ्चलता दृष्टि मे आ गई, वह विपुल विस्तृत

हो गई, हृदय मे नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगी, ज्ञान की परिधि बढ गई, चारो दिशाओ से त्रिविध-समीर के झोके उसके चित्त को रोमाञ्चित करने लगे, उसे चाँद मे नवीन सौदर्य, मेघ मे नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। वह अज्ञात-यौवना कलिका अब विकसित हो गई, प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल-मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया, चारो ओर से भौरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे, उसके सौरभ को वायु-मण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल मे स्वय अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणो मे अक्षय-मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी मे अमृत था, नन्दन की मधु-ऋतु थी, उसमे रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी, उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस* उमड़ चला! आज भी वह कुछ हाथो की तूंबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरो के टूटे-फूटे कोनो तथा गन्दे-छिद्रो से दो-एक दन्त-हीन बूढे साँपो को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाज़ीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं, दस बरस बाद, ये प्राण-हीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयेंगी। लेकिन यह अपवाद ही खड़ी-बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाञ्चजन्य उठा लिया, सुप्त-देश की सुप्त-वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी-बोली उस जाग्रति की शङ्ख-ध्वनि है। ब्रज भाषा में नीद की मिठास थी, इसमे जाग्रति का स्पन्दन, उसमे रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

ब्रज भाषा के मोम मे भक्ति का पवित्र-चित्र, उसके माखन मे शृङ्गार की कोमल करुण-मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झङ्कार है, उसके स्वर मे शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक-शान्ति ही ब्रज-भाषा के रूप मे बदल गई। वह था सम्राट् अकबर,

---

*ब्रज-भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक-हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल, जिनकी निर्द्वन्द्व छत्र-छाया मे उनकी शान्ति-प्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीडित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों मे लहलहा उठा। राजा महाराजाओ ने स्वय अपने हाथो से सङ्गीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलो को सीचा, कलाविदो को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। सङ्गीत की आकाश-लता अनन्त-झङ्कारो मे खिल-खिल कर समस्त वायु-मण्डल मे छा गई, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा-सिञ्चित राग-रागिनियाँ—जिन्हे कही शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रखे हुए धरा मेरु डॉवाडोल हो जायॅ, इस भय से विधाता ने उसे कान नही दिये—अभी तक हमारे वसन्तोत्सव मे कोकिलाओ के कण्ठो से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस-हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादो को लपेट लिया। चतुर चित्रकारो ने अपने चित्रो मे भावो की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरो की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पडता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचञ्चल-बरुनियों, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओ से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरो मे अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष मे अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल मे मानो शिल्पकला ही गला कर ढाल दी गई।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियो के अनिन्द्य-पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द-सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौंरो को मुग्ध कर रहे हैं,—यहाँ कूल, कॅलि, कछार, कुञ्जों में, सर्वत्र असुन-वसन्त शोभित है। बीचो बीच बहती हुई नीली यमुना मे, उसकी फेनोज्ज्वल चञ्चल तरङ्गो-सी, असख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग मे डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहो ऋतुएँ कल्पना के बहुरङ्गी-पङ्खों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन-वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिग-लका" के आस-पास "आनन-ओप-उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है।

चपला की चञ्चल-डोरियो मे पैंग भरते हुए नये बादलों के हिडोरे पर झूलती हुई इन्द्र-धनुषी सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक मे हिडोरे की रमक मिला रही हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता मे अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मण्डल उसके श्री-चरणो पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलङ्कारो की झनक ने देह-वीणा से फूट कर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों मे काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूख कर काँटो मे बदल गये हैं,—वह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम के पलको मे सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय मे स्वर्ग का विम्ब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल पल पर पलटन लगे जाके अङ्ग अनूप" ऐसी उस ब्रज-बाला के स्वरूप को कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अञ्चल-छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार-वायु में उमड़ा हुआ, नीलाकाश की तरह फैल कर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव-पुलिनो को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोंके शीघ्र ही सौ-सौ हाथों से उसे खींच लेते हैं। वह ब्रज के दूध दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित-यौवना अपनी बाह्य-रूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत् के सौंदर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश हो नहीं मिलता, निःसन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नन्दन-कानन है! जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा मे स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वल-कारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, सयम की स्थिर दीप-शिखा-सी, शुद्ध एव निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनिपूर्ण-कल्लोलो मे विलोड़ित बाह्य स्वरूप है, यह उसका गम्भीर, निर्वाक्-अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण-गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी, जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु बल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णाङ्कित हैं, इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर

उनको अक्षय अष्ट-छाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स-चिह्न अमिट और अमर है। इन्ही युग-प्रवर्तको के गम्भीर-अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त-उद्‌गार उमड़ कर, देश के आकाश मे घनाकर छा गये। ब्राह्मणो के शुष्क-दर्शन-तत्वो की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय-वायु-मण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया, राम-कृष्ण के प्रेम की अखण्ड रस-धाराओ ने, सौ-सौ बौछारो मे बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूर-सागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी-मानस!

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूर-सागर? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि?—उसमे अमूल्य-रत्न हैं। उसकी प्रत्येक-तरङ्ग श्याम की वशी की भुवन-मोहिनी-तान पर नाचती, थिरकती, भक्तो के भूरि-हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार मे पड़ी सौ-सौ पुरानी-नावो को पार लगाती, असीम की ओर चली गई है! वह भगवद्‌भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल-प्रलय है, जिसमे समस्त-ससार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय-प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमे एक बार पैठ कर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ मे गिरे हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड कर निकाल सके, पर जो एक बार "सागर" मे डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नही खीच सकते! सूर-सूर की वाणी। भारत के "हिरदै सो जब जाइहौ मरद बदौगो तोहि!"

और रामचरित-मानस? उस "जायो कुल मङ्गन" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलङ्क,

उन सन समता पाय किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क"—"तुलसी शशी" की उज्ज्वल-ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस? वह हमारी सनातनधर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है। भारतीय-सभ्यता का विशाल-आदर्श है, जिसमे उसका सूर्योज्ज्वल-मुख स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल-मानस मे अनन्त का अक्षय-प्रतिविम्ब है। उसकी सौ-सौ तारक-चुम्बित सरल-तरल-वीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादा-

पुरुषोत्तम की पवित्र-पद-रेणु से परिपूर्ण है! मानस इतिहास मे महाकाव्य, महाकाव्य मे इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय-अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमे श्रीसीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन-मुर्ति मे जाग्रत है। —ये दोनो काव्य-रत्न भारती के अक्षय-भण्डार के दो सिंह-द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियो की पावन-वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरो के रूप मे फूट कर ब्रज-भाषा के साहित्य-समुद्र मे भर गया, उनमे हम उस साखियो के सम्राट्, उस फूलो की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण-पङ्कज, उस स्वर्गीय-सगीत के जुलाहे के साथ—जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने मे गगन का "शब्द-अनाहद" बुन दिया—एकान्त मे अपने गोपाल की मूर्ति से बाते करने वाली उस मीरा को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजस्थान के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है, उसने शब्दो मे नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया!—ऐसा था अपार उस युग के मधु का भाण्डार, जिसने ब्रज-भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया; उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस ब्रज के वन में झाड-झखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरो का बेसुरा-आलाप, उसके कृमिल-पङ्किल गर्भ मे जीर्ण अस्थि-पञ्जर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचो-बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय वालुका-तट है, उसमे विलास की मृग-तृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियो के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए, यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहने हाथ मे अमृत का पात्र, और बायें मे विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक-पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी मे असख्य छिद्र, अपार सङ्कीर्णताएँ हैं!

अधिकाश भक्त-कवियो का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने मे समाप्त हो गया। बीच मे उन्ही की सङ्कीर्णता की यमुना पड गई, कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी मे बह गये, बडे परिश्रम से कोई पार भी गया तो व्रज से द्वारका तक पहुँच सका, ससार की सारी परिधि यही समाप्त हो गई! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिविम्ब मे बाँधने के प्रयत्न मे स्वय बँध गये। सहस्र दादुर उसमे छिप कर टर्राने लगे, समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली नीली लहरें काली पड गई। भक्ति के स्वर म भारत को जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारो मे बरसा दी। ईश्वरानुराग की बॉसुरी अन्धबिला मे छिपे हुए वासना के विषधरो को छेड़-छेड कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज मे, सौ-सौ यत्नो मे लपेटी हुई देश को समस्त आबाल-वृद्धाएँ, नग्नप्राय कर, भारतीय-गृहस्थ के बन्द-द्वारो से बाहर निकाल दी उनके कभी इधर उधर न भटकनेवाले सुकुमार पॉव ससार क सारे विषपूर्ण कॉटो ने जर्जरित कर दिये। गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गई।

शृङ्गार-प्रिय कवियो के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना शक्ति कामना के हाथो द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त,—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृग लोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे,—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिण-ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व व्यापी अनुभाते! ऐसी प्रखर-प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि मे समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जरा-मरण का भय? क्या इनकी 'नायिका', जिसके वीक्षण-मात्र से इनकी कल्पना तिलक को डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायगी?

इसी विराट्-रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुर्धर कवि रति के महाभारत मे लिखो हुए। समस्त देश की वासना के बीभत्स समुद्र को मथ कर इन्होने कामदेव को नव जन्म दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इन

वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया ! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र-नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढे हुए कच्चे कॉच के टुकडों का एक ऐसा विचित्र अजायब-घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय-व्यूह-शीशमहल' बना दिया कि आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रङ्ग-बिरङ्गी बिम्बों में बदल गई,—जिनकी भूलभुलैया में फँस कर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया !

और इनकी वियोग-वह्नि ने क्या किया ? इनको और्व के नत्रों की ज्वाला-सी आह ने ? देश की प्राण-सञ्चारिणी, शक्ति सञ्जीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया ! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जल कर छार हो गये, शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये, पवित्र प्रेम का चन्दन-पङ्क सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गई, शक्ति की कमर खा गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया।

ऐसी थी इनकी बीभत्स, विकार ग्रस्त विलासपुरी ! और इनकी भाषा-लङ्कारिता ? जिसकी रङ्गीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके छत्पट पर वह चित्रित है ?

बहत्तर-ग्रन्थों के रचयिता, 'नभ-मण्डल' के समान देव; 'देखन के छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा ससुराल', रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होने वाले, कठिन काव्य के प्रेत, पिङ्गलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन-केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब में अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खञ्जन, शङ्ख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमाञ्चित होना, दूत भेजना, कराहना,

मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना,—बस इसके सिवा और कुछ नहीं ! सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों में फूट रहा है, सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सङ्ग रपट पड़ती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है ! बीथियों में पराई पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीक-लीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है, कुञ्जों से उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन-पत्रों के झरोखों से 'दीरघ-दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं ।

भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त सङ्गीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया । और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया !—आँख की उपमा ? खञ्जन, मृग, कञ्ज, मीन इत्यादि, होठों की ? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि, और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की ? शुक, दादुर, ग्रामोफोन इत्यादि । ब्रज-भाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल-वक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अङ्गों में इनकी कामना का, विरहाग्नि का असह्य-ताप सदा के लिए बना ही रहेगा ! उसकी उदार-छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया ! ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू-लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृङ्खलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता !

इस तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि पुङ्गव नहीं जा सके । हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को,—नायिका के अङ्गों को चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं । और वीर तथा रौद्र-रस की कविता

लिखने के समय तो ब्रज-भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भूषणादि रसावतारो को, जिन्हे मूछो पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होने एक लाख रुपए के नोन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही मे भर दी, और जिनका हृदय "मस्सस्सुन धुन, जज्जज्जकि जन, डड्डुरि हिय, धद्धद्धकत" इत्यादि अनुप्रासो के कम्प-ज्वर की उच्छृङ्खल बडबडाहट को सुनकर 'धद्धद्धड़कने' लगा, अपनी वीर-गर्भा कविता के कवच मे इधर-उधर से कडी कडियाँ छान-बीन कर लगानी पडी।

यह है केवल दिग्दर्शन-मात्र, नयन-चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नही कि उस तीन-चार शताब्दियो के ओर छोर व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिंहावलोकन-मात्र करने मे मुझसे उसके स्वर्ण-सिंहासनासीन भारती के पुत्र रत्नो के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो, पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रज-भाषा के अलङ्कृत-काल के अन्तर्देश मे अन्तर्हित उस काव्यादर्श के वृहत् चुम्बक की ओर इङ्गित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ काव्य की धाराओ के रूप मे प्रवाहित हुई है। यह लिखने की आवश्यकता नही कि उस युग की वाणी मे जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी-प्रेमियो के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमे उसका घर घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञान-वृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके है उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नही हो सकेगी।

× × ×

ब्रज भाषा की उपत्यका मे, उसकी स्निग्ध अञ्चल-छाया मे, सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारो से बाँध देता हो, सहस्र-रगो की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्र-धनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहाँ सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो,—पर उसका वक्षःस्थल इतना विशाल नही कि उसमे पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश

ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी, विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात्त, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा कहानी, काव्य नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हमें भाषा नहीं, राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा, जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके, जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुञ्चित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों में तरङ्गित-कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोडित हो, हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, सङ्कुचित-प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार किलकार सन्धि-सङ्ग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में, हमारे मन की वाणी मुख की वाणी न हो, हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो, हमारी आत्मा के संगीत से पृथक् हो, वाद्ययन्त्र के पृथक्, हमारी भाव-तन्त्री तथा शब्द-तन्त्री के स्वरों में मेल न हो, मूर्धन्य "ष" की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक काष्ठ दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय! हम इस ब्रज की जीर्ण शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की सिलमा पसन्द नहीं, जिसमें हमारी देह की स्वाभाविक-उज्ज्वलता रँग जाती, फीका और मलिन पड़ जाता है। यह बिल्कुल आउट-आव्-डेट हो गई है। यह नकाब पहना हुआ हास्यप्रद चेहरा कानान

हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रङ्ग में रँगे वस्त्र चाहते है, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यो न हो, इसी मे हमारे वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल की कुशल-क्षेम है, कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपने जीवन नूपुर-नृत्य के जो मधुर-मुखरित अविरत पद-चिह्न हमारे देश के वक्ष-स्थल पर छोड रही है, उन्हे अपने ही हृत्स्पन्दन मे प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे मे अङ्कित करना नही चाहते। हमे देश-काल की उपेक्षा करनेवाले, अपने राष्ट्र के भाग्य-विधाता के विरुद्ध खडे होकर झाड़-झङ्खाडमय नवीन कुरूप-सृष्टि करने वाले इन ब्रज-भाषा के महर्षि विश्वामित्रो से सहानुभूति नहीं, इनकी प्राचीन ब्रज-भाषा की काशी, हमारे ससार से बाहर, इन्ही की अहम्मन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती, उसकी अन्धी-गलियो मे आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता; काल की त्रिवेणी मे—जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल-जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल सङ्गम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है!

खड़ी-बोली में चाहे ब्रज-भाषा की श्रेष्ठतम-इमारतो के होड़-जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरो मे वैसी बेल-बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं मे अजन्ता का-सा अद्भुत अध्यवसाय, चमत्कार विविध-वर्णों की मैत्री, तथा अपूर्व हस्त-कौशल उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियो मे, सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले. उसमे अभी मानस के से पवित्र घाटो का अभाव हो,—पर उसके राजपथो मे जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने-जानेवाले यात्रियो के लिए जो रथ तथा यानो के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा; उसकी हाट-बाट विपणियो मे जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास वैचित्र्य का आयोजन है, देश-प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थो के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसके पार्कों मे जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता पुष्पों की भिन्न-भिन्न ढाँचो मे खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार रङ्ग-बिरँगी क्यारियाँ सामयिक-रुचि की कैंचो से कटी-छँटी जो विविध-स्वरूपों की

झाड़ियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ, नव नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा मिश्रित कुञ्ज, लता-भवन और बेलि-वितान अभी है, वे असन्तोषप्रद नहीं, उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित-साँसों का स्पन्दन, आधुनिक-इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन-सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमाञ्च, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नवीन हृत्कम्पन, नवीन वसन्त, नवीन-कोकिलाओं का गान है।

इन बीस-पचीस बरसों के छोटे से विस्तृते में खड़ी बोली की कविता के मूल देश के हृदय में कितने गहरे चले गये, उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैल कर हमारी खिड़कियों से धीरे-धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगीं, किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि राशि पुष्पों की अर्धस्फुट-सौरभ हमारे कमरों में समाने, साँसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी, उसकी सघन-हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल-कोकिलायें, तरुण-पपीहे, तथा प्रौढ़-शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी ओर संकेत करने लगे, उनकी अस्फुट, मर्मर में हमें अपनी विश्व-व्यापी उत्थान-पतन, देश व्यापी आशा निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष-विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है; इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं।

खड़ी बोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल-कला में भावी की लोकोज्ज्वल-पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गङ्गा है, जिसके अस्पष्ट ज्योति-पुञ्ज में, न जाने, कितने जाज्वल्यमान सूर्य-शशि, असंख्य ग्रह-उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य-लोक अन्तर्हित है! वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं में नव-जीवन सञ्चारिणी सञ्जीवनी है; वह हमारे भगीरथ-प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य विधाता की वरदान-स्वरूप, विश्व-कवि के हृत्कमण्डल से निःसृत अमृत-स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुम-देश के कर्ण-कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया, जिसकी विशाल-धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्ण-यान, आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये,

धर्म और ज्ञान की निर्मल-पालों को फहराता हुआ अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल, तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न राशियों से सुसज्जित, बाधा-बन्धनों की तरङ्गों को काटता, दिव्य-विहङ्गम की तरह क्षिप्र-वेग से उड़ता हुआ, संसार के विशाल सागर-सङ्गम की ओर अग्रसर हो रहा है! उसके चारों ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्य-तीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हों, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों!

(ख)

भाषा संसार का नादमय-चित्र है, ध्वनिमय-स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झङ्कार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषतायें, भिन्न-भिन्न जातियों तथा देशों की सभ्यता की विशेषतायें हैं। संस्कृत की देव वीणा में जो आध्यात्मिक सङ्गीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों में नहीं, और पाश्चात्य-साहित्य के विशद यन्त्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती-भवन में नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य अनित्य-सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता के राज-पथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य-सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अङ्कित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय-वृत्त का छोटा-सा खण्ड-मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरङ्ग-मात्र है, जिसका अपना विशेष-स्वरूप, विशेष आकार प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती, जो अपने सद्य-स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष-अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायु-मण्डल में गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों तालों में, नवीन रागों स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन

स्पन्दन-कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण-पतझड इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन-युग ससार की शब्द तन्त्री मे नूतन-ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता नवीन युग की नवीन आकाङ्क्षाओ, क्रियाओ, नवीन इच्छाओ, आशाओ के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागनियाँ नई कल्पनायें तथा भावनाये फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन, भारती की नाड़ियो मे नवीन रक्त का सञ्चार, हृदय मे नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर-अश हमारे हृद्गत-सस्कारो, विचारो, हमारी प्रवृत्तियो, मनोवेगों, हमारी इन्द्रियो तथा दैनिक क्रिया-कम्पनो से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक-प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव मे जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नही कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणो का स्पन्दन उसी की लय मे ध्वनित होने लगता, दोनो अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते है।

हिन्दी के जिन वयोवृद्ध-आचार्यों की ब्रज-भाषा ही मे काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खडीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने मे भी सशङ्कित रहते हैं, उसका मुख्य-कारण उनके यही हृद्गत-सस्कार हैं, जिनसे उनकी रुचि का रक्त बन चुका, जो उनके भाव-अनुभावो की स्थूल-सूक्ष्म नाडियो मे प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रङ्ग मे रँग चुके, अपने स्वर में गढ चुके हैं। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षो की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मास-हीन लगते हैं, जैसे भारती की वीणा की झङ्कारें बीमार पड़ गई हो, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हों, जैसे साहित्यकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो, भाषा के "प्राण" चिरकाल से क्षय-रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोनो को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हो। खड़ी बोली का 'स्थान' मुझे साफ, सुथरा, निवास के उप-

युक्त जान पडता है, और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्री-हीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरो के रहने योग्य, वैसे ही ब्रज-भाषा की क्रियाये भी—'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हो, अच्छी तरह खुलती न हो, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो, पर यह सब खडी बोली के शब्दो को सुनने, पढने, उनके स्वर मे सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पखों की अबाध उन्मुक्त उडान मे लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त मे मिलाती है। राग ध्वनि-लोक निवासी शब्दो के हृदय मे परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियो के चित्र मात्र हैं। समस्त-ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोप-शिराओं मे प्रभावित हो, अनेकता मे एकता का सञ्चार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झङ्कारों, असख्य स्वरों मे फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप मे व्याप्त हो जाता; यही संसार के मानस-समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं-आकाक्षाओं, भावनाओं-कल्पनाओं की तरङ्गों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपो मे अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर-असुप्त स्वर्ण-भृङ्ग एक अनन्त-गुञ्जार मे मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिच कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय मे प्रवेश कर एक-भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक सकेत-मात्र, इस विश्वव्यापी सगीत की अस्फुट झङ्कार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़ कर दूसरे का हृदय रोमाचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले

लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है, लक्ष और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनानेवाले शब्दो की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो से बद्ध होते उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश मे पक्षियो की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता मे सामञ्जस्य रहता है, वहाँ कोमल-मा तथा कठोर-पिता के घर मे लालित पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अङ्ग-विन्याम तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरो मे उच्छ्वसित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पख फैला, क्षण भर चञ्चल लहरो की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई! जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखो का उपमान भी न बना होगा, न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम रोमाञ्च तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप मे प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी मे छप्छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चञ्चलता मे जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है!

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः सङ्गीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, 'भौहो' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय मे

अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' मे उठान 'लहर' मे सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरङ्ग' मे लहरो के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढो बढो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' मे जैसे किरणो मे चमकती, हवा के पलने मे हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियो का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरो का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहे उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरगो का आभास मिलता है। पङ्ख' शब्द मे केवल फड़क ही मिलती है, उडान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पखो मे शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पडता हो, अगरेजी का 'wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' मे जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' मे नही मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगो का अचानक स्पर्श पाकर हृदय मे जो रोमाञ्च हो उठता है, उसका चित्र है, ब्रज भाषा के 'परस' मे छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत-स्फुरण प्रकट होता है। अँगरेज़ी के 'air' मे एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो, 'अनिल' मे एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो, 'वायु' मे निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंच कर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभञ्जन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तो को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मे कुछ ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो,। 'प और 'न' की दीवारो मे घिर-सा जाता है 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके, शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखो के सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कार मे चित्र, चित्र मे झङ्कार हो, जिनका भाव-सगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम मे प्रवाहित हो सके, जिनका सौरभ सूँघते

ही साँसो द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश मे समा जाय, जिनका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियो की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते मे न समा कर मधु की तरह टपकने लगे, अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जड़ता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावो की ज्योति मे दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियङ्गु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाञ्चित रहे जापान की द्वीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पक्तियाँ अपने अन्तस्तल मे सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोछ्वासो के भूकम्प मे काँपती रहे !

भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गये हो, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हो, छुड़ाये न जा सकते हो, कवि का हृदय जैसे नीड़ मे सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय-आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता मे कूक उठा हो, एक रहस्य-पूर्ण सगीत के स्रोत मे उमड़ चला हो, अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पड़ने के के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झङ्कारो में नृत्य करने लगा हो, भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दो के चिरालिङ्गन-पाश मे बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहे बढाने लगी हो,—यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस-सन्धि है, हृदय के कुञ्ज मे छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरो के पावस में केवल शब्दो के 'बटु-समुदाय' ही, दादुरो की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रज-भाषा के अलङ्कृत-काल की अधिकाश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासो की ऐसी अराजकता तथा अलङ्कारो का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ-वाणी मे जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कही पता ही नहीं! उस "सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर, अलङ्कारो

के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल-अंगों में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता, उस बालिका के अस्थि-हीन-अंग खींच-खाँच, तोड़-मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चारपाई में बाँध दिये, फिट कर दिये गये हैं ! प्रत्येक पद्य, Messrs Whiteaway Laidlaw and Co के Catalogue में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह,—जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं,—एक नये फैशन के गौन या पेटी-कोट, नई हैट या अण्डर-वियर, नये विन्यास के अलङ्कार-आभूषण अथवा वस्त्रों के नये-नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष-द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झङ्कारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियाँ, तरुण-तरंगों में फूट गई हों; कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनायें केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यञ्जना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामञ्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पङ्ख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित

स्थान मे पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वय अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित-विपय बन जाते है वहाँ बाजे के सब स्वरो के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वो के प्रलय मे लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य मे अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दा की छोटी-मोटी सेनाएँ सगृहीत कर, स्वय शासक बनने की चेष्टा मे विद्रोह खडा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता मे शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र-सत्ता नही रहती, वे दोनो भाव की अभिव्यक्ति मे डूब जाते है, तब भिन्न-भिन्न आकारो मे कटी-छँटी शब्दो की शिलाओ का अस्तित्व ही नही मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं, उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप मे बदल जाता, किसी के कुशल-करो का, मायावी-स्पर्श उनकी निर्जीवता मे जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हे पाषाण-खण्डो का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार सङ्गीत मे भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय मे ऐसे मिल जाते है कि हम उन्हे पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता हम केवल राग के सिन्धु मे डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता मे भी शब्दो के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप मे बहने लगते, उनकी लँगड़ाहट मे गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते है, कणो का हम अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य मे, उसके रङ्ग विरगे पुष्पो, लाल-हरे-पोल्लो, छोटे-बड़े तृण-गुल्म-लताओ, ऊँची-नीची सघन-विरल वृक्षावलियो, झाड़ियो, छाया-ज्योति की रेखाओ, तथा पशु-पक्षियो की प्रचुर ध्वनियो का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त-सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमे से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्र-जाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक दूसरे के बल सशक्त रहते, अपनी सङ्कीर्णता की झिल्ली

तोड़, तितली की तरह, भाव तथा राग के रङ्गीन पङ्खों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।

ब्रज-भाषा के अलङ्कृत काल में सङ्गीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जाती, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध-झङ्कारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सङ्गीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन, —सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त-छन्द, एक अखण्ड-सङ्गीत ही में होता है।

भौगोलिक-स्थिति, शीत-ताप, जल-वायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण-सङ्गीत में भी विभिन्नता आ

जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सङ्गीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सस्कृत का सङ्गीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृङ्खलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमे दीर्घ-श्वास की आवश्यकता पडती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वय बाहर निकल आना चाहता; एक कोना पकड कर हिला देने से सारा चरण जन्जीर की तरह हिलने लगता है। शब्दो की इस अभिन्न मैत्री इस अन्योन्याश्रय ही के कारण सस्कृत मे वर्ण-वृत्तो का प्रादुर्भाव हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि सस्कृत के छन्दो मे अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिए स्थान ही नही मिलता। वर्णिक छन्दो में जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के सङ्केतो तथा नियमो के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है, वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव मे झूमती हुई जाती, तुक का अङ्कुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार सस्कृत के सङ्गीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमे वर्ण-वृत्तो की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्ण-वृत्तो के कारण सस्कृत मे अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दो की। उसमें पर्यायो की तो प्रचुरता है, पर भावो के छोटे-बड़े चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओ लघु-गुरु भेदो को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दो का प्रादुर्भाव नही हो सका। वर्ण-वृत्तो के निर्माण मे विशेषणो तथा पर्य्यायो से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणो की मीडो से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि ripple, billow, wave, tide आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद-द्योतक शब्दो के गढने की ओर सस्कृत के कवियो का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दो के बढाने की ओर।

सस्कृत का सङ्गीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नही। वह लोल-लहरों का चञ्चल कलरव, बाल झङ्कारो का छेकानुप्रास है। उसमे प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र-हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र-अङ्ग-भङ्गी, स्वाभाविक-साँसें हैं। हिन्दी का सङ्गीत स्वरो को रिमझिम मे बरसता, छनता

छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर पगों से पग मिलाकर सेनाकार नहीं चलते, बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का सङ्गीत केवल मात्रिक-छन्दों ही में अपने स्वाभाविक-विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चञ्चल-नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्-कल् छल्-छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चञ्चल भ्रूकुटिभङ्ग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चञ्चल-पदों से स्वाभाविक-नृत्य छीन कर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन-गिन कर पाँव उठाना सिखला कर, उनकी चञ्चलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का सङ्गीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते; बँगला भाषा का सङ्गीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, ऋजु-कुञ्चित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द-राशि को झकोरती, धकेलती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्वदीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म-रूप से नहीं तुले मिलते उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेजी की तरह बँगला में भी स्वरपात (accent)

अधिक परिस्फुट रूप मे मिलता है। यदि अँगरेजी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दो मे कम्पोज कर कस दिये जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठे। सस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे, (diamond cut) के होते हैं, वैसे बँगला और अँगरेजी के नहा, वे जैसे लिखे जाते वैसे नही पढे जाते। बँगला के शब्द, उच्चारण की धारा मे पड, स्पञ्ज (sponge) के टुकडे की तरह स्वर से फूल उठते, और अँगरेजी के शब्दो का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गल कर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला मे, अधिकतर अक्षर-मात्रिक छन्दो मे कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियो के अतिरिक्त,—जिन्हाने सस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढङ्ग अपनाया,—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमो पर बहुत कम कविता मिलती हैं, इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक सङ्गीत विनष्ट भी हो जाता: रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ मे बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा सयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोडकर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ मे—एक ही मात्राकाल माना जाता: और वास्तव मे, बँगला मे इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नहीं। पर हिन्दी मे तो सोने की तोल है, उसमे आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए घटा-बढा नही सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती इसलिए बँगला छन्दो की प्रणालियो मे डालने से उसके सङ्गीत की रक्षा नही हो सकती।

ब्रज-भाषा के अलङ्कृत काल मे "सवैया" और "कवित्त" का ही बोलबाला रहा, दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ भक्ति के उद्‌गारो को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र-स्वरो को अपनी शृङ्गार की तन्त्री मे चढाने का साहस ही नही हुआ, उनकी लेखनी-द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दो मे रचना करना

आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों में नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के सकेतों पर नाचना पडता है, सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हे साधना, उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित-मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार नचाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यन्त्रों में उनकी पृथक्-पृथक रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झङ्कारित की जा सकती हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमें उसकी छाप-सी लग जाती; जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्‌गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों, सनेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिङ्गलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढियों तथा सुरङ्गों से ले गये हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित-सी जान पड़ती हैं; जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बल-पूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल, छन्दों के कन्धे पिचका कर अपनी कविता की पालकी को आगे बढाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढने का अधिक शौक होता है, उनके छन्दों के पहिये, बैलन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता (monotony) आ जाती उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु-अक्षरों के बाद आने-वाले गुरु-

अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी मे, छन्द की डोरी पर दानो के बीच दी हुई स्वरो की गाठे तो बडी-बडी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दो की गुरियाँ छोटी पड, उन गाँठो के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारो के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटो मे स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है, अपने पुष्प-गुल्म लताओ के कोमल पुलिनो से चुम्बन-आलिगन बदलने, प्रवाह के बीच पडे हुए रग-विरगी रोडो से फेनिल-हास-परिहास करने, क्षिप्र-आवर्तों के रूप मे भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (romance) स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जान पडता है, हिन्दी का औरसजात नही, पोष्य-पुत्र है, न जाने, यह हिन्दी मे कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर-मात्रिक छन्द बँगला मे मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-सगीत की वे रक्षा नही कर सकते। कवित्त को हम सलापोचित (colloquial) छन्द कह सकते हैं, सम्भव है, पुराने समय मे भाट लोग इस छन्द मे राजा-महाराजाओ की प्रशसा करते हो, और इसमे रचना-सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियो ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक-सगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओ की स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द मे बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु-अक्षर को उच्चारण करने मे जितना काल, तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप मे भी साधारणतः मिलता है, दोनो मे अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है। उसमे, यति के नियमो के पालनपूर्वक, चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है, छन्द की रचना मे अन्तर नही आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते

हुए, उच्चारित होते हैं, हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन में कुञ्जन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है"—इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए—

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुञ्जन में (सब ठौर)
कलित-क्यारिन में (कल) किलकन्त
वनन में बगरयो (विपुल) वसन्त।"

अब दोनों को पढ़िए, और देखिए कि उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छन्दों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है; कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द में स्वकीय, हिन्दी का अपना, उच्चारण मिलता है।

इस अनियन्त्रित छन्द में नायक नायिकाओं, तथा अलकारों का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का विकास तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त-छन्द में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुल-वधू की तरह दो-एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र-भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यञ्जन, जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर-सञ्चालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए मुख्य-तार को सहायता देने भर के लिए, झङ्कारित किये जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर

रहता है, ध्वनि-चित्रण को छोड कर (जिसमे राग व्यञ्जन-प्रधान रहता, यथा—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यञ्जन-सगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने मे प्रायः गौण रूप से सहायता मात्र करता है। जिस छन्द मे स्वर-सगीत की रक्षा की जा सकती, उसके सङ्कोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमे राग का स्वाभाविक-स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामञ्जस्य पूर्ण-रूप से मिलता है, जहाँ राग केवल व्यञ्जनो की डोरियो मे झूलता, वहाँ अलकारो की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पडती है। कवित्त का राग व्यञ्जन-प्रधान है, उसमे स्वर अथवा मात्राओ के विकास के लिए अवकाश नही मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनुष-सा आशा का छोर

अनिल मे अटका कभी अछोर" इस मात्रिक छन्द मे 'सा आशा का' इन चार वर्णो मे 'आ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुप की तरह अनिल मे अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण मे 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम मे सहायता देती है, उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतों का-सा

प्रकटा विकट महा-आकार" इन चरणो मे स्वर के प्रसार-द्वारा ही भूतो का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यञ्जनो की आवृत्ति उसे भीषण बनाने मे सहायता-मात्र देती है; पुनः—

"हमें उडा ले जाता जब द्रुत

दल बल युत घुस वातुल-चोर" इसमे लघु अक्षरो की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणो मे किसी एक को कवित्त छन्द मे बाँध कर पढे, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर

अनिल मे अटका कभी अछोर"

इसे, "इन्द्रधनु सा आशा का छोर अटका अछोर

अनिल मे, (अनिल के अंचल आकाश मे)"

इस प्रकार रख कर पढ़े, तो प्रत्येक अक्षर की कड़ी अलग-अलग हो जाने,

तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्र-धनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार—'अरी सलिल की लोल-हिलोर'', इस पद में 'इ' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर को गिराती और उठाती', तथा ''पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश'' इस चरण में लघु-मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का सङ्कोच, गिलहरी की तरह दौड़ कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त-छन्द को pressing machine में कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पख उस प्रकार स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वराकाश में नहीं उड सकते, क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अन्तरतम सङ्गीत है, उसके आनन्द का रोमहास है, उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म-प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्द-बद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत्, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति सञ्चार करनेवाले उसके सङ्गीत को, अपनी उन्मुक्त झङ्कारों के पखों में उड़ने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिञ्जर बद्ध कीर की तरह, छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों से कुण्ठित हो, उड़ने की चेष्टा में छटपटा कर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा में छन्द-बद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतङ्ग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इङ्गितों से इस तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-सङ्गीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़-सङ्गीत के साथ भाषा का सङ्गीत भी पूर्ण-परिस्फुट होना चाहिए तभी दोनों में सतुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही

करेंगे। पद्य मे वाणी का रोआँ-रोआँ सङ्गीत मे सन कर, रस मे डूबे हुए किश-मिस की तरह, फूल उठता है, सुरो मे सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय-स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झङ्कारों मे कॉपते रहते हैं, पावस की ऑधियारी मे जुगनुओ की तरह अपनी ही गति मे प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बाते होनी चाहिए। तुक राग का हृदय है, जहॉ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष-रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र मे केन्द्रित रहती, जहॉ से नवीन-बल तथा शुद्ध-रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर मे स्फूर्ति सञ्चार करती रहती हैं। जो स्थान ताल मे 'सम' का है, वही स्थान छन्द मे तुक का, वहॉ पर राग शब्दों के सरल-तरल ऋजु-कुञ्चित 'परनो' मे घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता मे हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह मे राग वादी स्वर पर बार-बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द मे अच्छा लगता है जो पद-विशेष मे गुँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल मे, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है, इसी शब्द सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अत. वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव के हृदयङ्गम कराने में भी सहायता देता है।

हमें अपनी दिनचर्या मे भी, प्रायः, एक प्रकार का तुक मिलता है, जो

उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता, जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्य-कारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लङ्घन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमे तृप्ति नहीं देते, हमारे हृदय मे एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखो मे बेतुके-से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं,—जब हम अधिक कार्य-व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमे अपनी स्वाभाविक दिनचर्या मे बरते जानेवाले शिष्टाचार-व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतन्त्र क्षणो मे प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता, हमारे कार्य-प्रवाह मे तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त-दौड़-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता है। यही Blank verse अथवा अतुकान्त कविता है। इसमे कर्म (action) का प्राधान्य रहता है; दिन की उज्वल ज्योति मे काम-काज का अधिक प्रकाश रहता है, उसमे हमे तुक नहीं मिलता प्रभात और संध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमे इस तुक के दर्शन मिलते हैं; प्रत्येक पदार्थ मे एक सोने की भावपूर्ण, शान्त, सङ्गीतमय छाप-सी लग जाती, यही गीति- काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसो मे प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ मे मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल-शोभा इव पादपाना' तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है, और तदनुसार व रस-विशेष की सृष्टि करने मे भी सहायता देते हैं। रघुवंश मे 'अज-विलाप' का वैतालीय छन्द करुणा-रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है! उसके स्वर मे कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है! जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कण्ठ गद्गद् हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग-राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखों में अवश्य

आँसुओं का समुद्र उमडता हुआ मिलता। मालिनी-छन्द में भी करुण-आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दो मे पीयूष-वर्षण, रूपमाला, और सखी, प्लवङ्गम छन्द करुणारस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते है। पीयूष-वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि मे बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पो के शृङ्गार से विहीन, जिसकी धारा लहरो के चञ्चल कलरव तथा हास-परिहास से वञ्चित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य-वेश मे, अकेलेपन मे सिसकता हुआ, श्रान्त-जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुणारस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनो छन्द चौबीस मात्रा के है, पर इन दोनो की गति मे कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती-नाले की तरह अपने पथ की रुकावटो को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता मे डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवो से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका-छन्द में ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदो में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियो की टोली परस्पर हाथ पकड, चञ्चल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अङ्ग-भङ्गियो मे उठती-झुकती, कोमल कण्ठ-स्वरो से गा रही हो। इस छन्द मे जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों मे उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल-छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी-छन्द की गति मे कितना अन्तर है? सखी-छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त मे मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय मे एक प्रकार का स्वर-भङ्ग आ जाता है, जो करुणा का सञ्चार करने मे सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई-छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल-साहित्य के लिए इससे

उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं लगता। इसकी ध्वनि मे बच्चो की साँसे, बच्चो का कण्ठ-स्वर मिलता है, बच्चो की ही तरह यह चलने मे इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखो मे खूब उड़ता है।

हिन्दी मे मुक्त-काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ रहा है, कोई इसे रबर-काव्य कहते, कोई केंचुआ। सन् १९२१ मे जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह कृश-लेखनी से यक्ष के 'कनक-वलय' की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' मे उस 'बीसवी सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस बामन ने, जो कि लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढनेवाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दी कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी मे सर्वत्र 'स्वच्छन्द-छन्द' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।

यह 'स्वच्छन्द-छन्द' ध्वनि अथवा लय (rhythm) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद मे उतरता, चढाव मे मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता आवश्यकतानुसार अपने किनारो को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सङ्कुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमे भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँच कर उसके ढाँचे मे फिट कर देना पड़ता है; कभी पाद-पूर्त्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्र-साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य-समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आन्तरिक-ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढता है। उसमे छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरों (Quarters) में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना की परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-रहने की सुविधा को, कुछ इने-गिने कमरो

ही मे येन-केन प्रकारेण ठूँस-ठॉसकर जीवन निर्वाह नही करना पडता; वह अपनी स्वतन्त्र-इच्छा, स्वाभाविक-रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधा-नुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमे उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पॉव फैला कर सुख पूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता मे अगो के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। इसमे चरण इसलिए घटाये-बढाये जाते हैं कि काव्य-सम्बद्ध, सयमित रहे, उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मासल हो, न ब्रज-भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पञ्जर। जहॉ छन्द के पद भावानुसार नही जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढते, चीन की सुन्दरियो अथवा पाश्चात्य महिलाओ की तरह केवल अपने चरणो को छोटा रखने के लिए लोहे के तङ्ग जूते कमर की पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहॉ उनके स्वाभाविक-सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छन्दो की तरह मुक्त-काव्य भी हिन्दी मे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनो मे स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरो मे कण्ठ-स्वर मिला कर गाता, और स्वतन्त्रता पूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कठ का तबूरे के स्वरो के साथ सामञ्जस्य बना ही रहता, तथा ऐक्य-भङ्ग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भी भाषा के तारो पर झूलता है, और जहॉ दोनो मे मैत्री नही रहती वहॉ छन्द अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छन्दों को लीजिए।

उनके कुछ छन्द बॅगला की तरह अक्षर-मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनमे कोई भी नियम नहीं मिलता। जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व-दीर्घ सगीत पर चलती, उनकी उज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र में गॅथी हुई, हीरो के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर वह बॅगला के अनुसार

चलती वहाँ उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बँगला की कुछ लाइनें लीजिए, —

हे सम्राट् कवि,
एइ तव हृदयेर छबि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्षेर पाने
जेथा तव बिरहिणी प्रिया
रयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,
क्लान्त-सन्ध्या दिगन्तेर करुण निश्वासे,
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य-विलासे,
भाषार अतीत तीरे
काङाल नयन जेथा द्वार ह'ते आशे फिरे फिरे,
— -रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हें पहले बँगला-उच्चारण के साथ पढ़िए, फिर हिन्दी-उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए, बँगला-उच्चारण का प्रवाह ज्योंही इनके ऊपर से हटा दिया जाता है सारी शब्द-राशि जल-धारा के सूख जाने पर नदी की तह में पड़े हुए निष्प्रभ रोड़ों की तरह, अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता-चञ्चलता, अपनी चमक-दमक तथा गति गँवा कर अपनी ही लँगडाहट में डगमगाती हुई गिर पडती है। इसका कारण यह है कि बँगला के उच्चारण की मांसलता हिन्दी में नहीं, इसका ह्रस्व-दीर्घ राग बँगला-छन्दों में स्वाभाविक विकास नहीं पाता। बँगला-उच्चारण के श्वासवायु से उपर्युक्त पद्य के चरण रबर के रंगीन गुब्बारों की तरह फूल उठते, जिसके निकलते ही छन्द के पद ढीले पड जाते, शब्द पिचक जाते, और उनका परस्पर का सम्बन्ध टूट जाने के

कारण राग की विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है। श्रीयुत 'निराला' जी के भी दो एक छन्द देखिए—

(१) देख यह कपोत कण्ठ—
बाहु-बल्ली कर सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का,
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

—अनामिका।

(२) कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—'रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष—
सम्भव क्या है—
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई . ...। —अनामिका।

पहले छन्द के चरण अक्षर मात्रिक राग की गति पर, दूसरे के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक राग की गति पर चलते हैं। पहले छन्द में, 'यह, कण्ठ, बल्ली, सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दों पर एक प्रकार का स्वरपात देकर, रुक कर, आगे बढ़ना पड़ता, 'नितम्ब भार चरणसुकुमार' इस चरण को एक साथ पढ़ना पड़ता है, राग की गति भग हो जाती है। दूसरे छन्द में राग की एक धारा व्याप्त मिलती है, उसका स्वर भग नहीं होता, शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग, असम्बद्ध नहीं दिखलाई पड़ती; उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार हो जातीं,

उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं, दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त-काव्य में ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो,—जैसे पीयूषवर्षण तथा रोला के चरण,—साथ-साथ अच्छे नहीं लगते; राग का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है; गति बदलने के पूर्व लय को विराम दे देना चाहिए। "पल्लव" में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास, 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।

'परिवर्तन' में जहाँ भावना का क्रिया-कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रमार्जित रहती, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एकस्वरता तोड़ने, तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये हैं। यथा—

"विभव की विद्युत् ज्वाल

चमक, छिप जाती है तत्काल।" ऊपर के चरण में चार मात्राएँ घटा कर उसकी गति मन्द कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़ कर उसे "विभव की चञ्चल विद्युत-ज्वाल"—इस प्रकार पढ़ा जाय, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा का चमक कर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक-स्फुरण मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों में काट छाँट कर दी गई है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये, और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा—

शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी,"—इस चरण में वाणी को विश्राम मिल जाता, तब नया छन्द—

"सरलपन ही था उसका मन

निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार—

"कुसुमदल चुन चुन कर निशि-भोर

खोजना है अजान वह छोर"—इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले चरण में विश्राम देकर तब—

"उसके उस सरलपने से

मैने था हृदय सजाया"—यह चौदह मात्रा का छन्द रखा है, इसकी गति पूर्ववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न-भिन्न छन्द आये हैं वहाँ विराम देने की आवश्यकता नही समझी गई। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमे निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वत का सहसा बादलो के बीच ओझल हो जाना आदि, अद्भुत-रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल-गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही—

'पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश

पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश"—यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पडा। इस छन्द का सारा वेग—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर"—यह विस्तृत-चरण रोक देता,

और **"सरल शैशव की सुखद-सुधि सी वही**

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी"—इस सुखदुःख मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

'आँसू' में कहीं-कहीं एक ही छन्द के चरणों मे अधिक काट-छाँट हुई है। यथा—

"देखता हूँ जब, उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को !
नवोढा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर,
अकेली-आकुलता-सी, प्राण !

कहीं तब करती मृदु-आघात
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते है पग अज्ञात ।"

इन चरणो मे शोकाकुलता के कारण स्वर-भग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नही आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश-गात" इस चरण की गति को कुठित कर देने से अनुवर्ती चरण मे पगो के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी—

"पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग-जल-धार," इन लाइनों में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणो के पिघल पडने तथा द्वितीय चरण मे आँसुओ के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है।– मुझे अपने इस बाल-प्रयास मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जानें।

खड़ी-बोली की कविता में क्रियाओ और विशेषतः सयुक्त क्रियाओ का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नही तो कविता का स्वर Expression शिथिल पड जाता है, और खड़ी बोली की कविता मे यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। "है" को तो, जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिए, इसका प्रयोग प्राय. व्यर्थ ही होता है। इस दो सींगोंवाले हरिण को "आश्रम-मृग" समझ, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह "कनक-मृग" है, इसे कविता की पञ्चवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। "समासों" का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँट कर उन्हे सुन्दर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मासल हरीतिमा मे छिपे हुए भावो के पुष्पो को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी मे अभी समस्या-पूर्ति का स्वाँग जारी ही है। जो लोग "कवयः कि न जल्पन्ति, कागा· किं न

भक्षन्ति" के समर्थक, और कवियो को कौओ के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरो की अँधेरी उडान समझनेवाले है, उनकी बात दूसरी है, पर जो कवि को राष्ट्र का निर्माता मानते, जिन्हे कविता मे देवताओं का भोजन, ससार का अन्तरतम हृत्स्पन्दन मिलता है, उन्हे तो उसे इस अस्वाभाविक-बन्धन से छुडाने की चेष्टा करनी चाहिए। ब्रज-भाषा की कविता मे अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण यह समस्या-पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्व-व्यापी प्रतिभा को तागे की तरह सूई की आँख मे डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाडियो की तरह दूर से दौड लगा कर शब्दो के एक कृत्रिम परिमित वृत्त (ring) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है? क्या बहुपतियो को वरने की असभ्य प्रथा, कलङ्क की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी? इस लक्ष्य-वेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा?

हिन्दी मे सत्समालोचना का बडा अभाव है। रसगङ्गाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, सञ्चारी, व्यभिचारी आदि भावो का जो कुछ सञ्चार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व-भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों मे न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी मे सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। बड़े हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर वञ्चित उच्चतम-कक्षाओ मे भी प्रवेश पा गई, वहाँ उसे अपनी बहन अँगरेज़ी के साथ वार्तालाप तथा हेल-मेल बढाने का अवसर तो मिलेगा ही, उनमे घनिष्ठता भी स्थापित हो जायगी। आशा है, विश्व-विद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी मे कौन बडा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यो का निबटारा करने, तथा 'सहित' शब्द मे ष्यञ् प्रत्यय जोड कर सत्साहित्य की सृष्टि करने मे व्यस्त है, तब तक हिन्दी में अँगरेजी ढङ्ग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ मे प्रकाश डालने का प्रयत्न करेगे। हम लोग अब 'काव्य रसात्मक वाक्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये है।

यहाँ पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमे हमने अपने प्राणो का संगीत अभी नहीं भरा, उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरल नही हुए, वे केवल नाम मात्र है; उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगो के चिरालिङ्गन-पाश मे नहीं बँधे,—इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमे रोमान्चित नहीं करता, वे हमे रस-हीन, गन्ध-हीन लगते हैं। जिस प्रकार बडी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पडता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप मे, भावों के ढाँचों मे ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप मे गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पडता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह मे बह कर खड़ी बोली के खुरदुरे रोडे हमें धीरे-धीरे चिकने तथा चमकीले लगने लगेंगे। हमे आशा है, भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नो को किसी दिन ससार के सामने रख देगा; और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुह कर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बना कर, एक बार फिर दुर्भिक्ष-पीड़ित संसार को परितृप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

(मार्च १९२६) [पल्लव से—

विज्ञप्ति

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी-ससार के उद्भट-समालोचको की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने मे मुझे जो सकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है उसका कारण यह कि मेरे इन असमर्थ प्रयत्नो तथा असफल-चेष्टाओं द्वारा किए गए अत्याचार-उत्पात को स्नेह-पूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश मे न बाँध लेंगे, स्वयं भी मेरे अत्यत-निकट खिच आयेगे। सत-हसो की तो वैसे भी चिन्ता नही रहती; हाँ वाग्विकार के प्रेमियो के कठोर-आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका मे अत्यन्त-विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटकारी का रोचक-जाल फैला कर उनकी रण-कुशल कठफोरे की सी ठोठ को बाँध दूँ, किन्तु निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली किवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी-कवि ने निर्भयता का कवच पहन कर, मुझे, उनकी लम्बी-सी चोच के लिए 'शोरवा' तैयार करने से हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस सग्रह मे दो-एक को छोड अधिकाश सब रचनाएँ सन् १६१८-१६ की लिखी हुई हैं। उस कवि-जीवन के नव-प्रभात मे नवोढा कविता की मधुर नूपुर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय-सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्द कवियश: प्रार्थी, निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणा-वादिनी के चरणो के पास बैठ कर, स्वर साधना करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्तन्त्री से, बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त-असमर्थ अँगुलियो के उल्टे-सीधे आघातो द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट-अस्पष्ट-झकारे जाग्रत कर सका है वे इस 'वीणा' के रूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, क्योंकि तब इसका सारा ठाट ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बन्ध आदि-जैसे मम, स्वीकारों, निर्माऊँ, नयवाली, 'पहना है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ३१)' इत्यादि—जिनका प्रयोग मुझे

अब कविता म अच्छा नही लगता—इसमे ज्यो के त्यो रख दिए गए है। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत् साधने समय अपने नौसिखुवे शिष्य की अधीर पथ-भ्रष्ट अगुलियो की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नही होती उसी प्रकार इस वीणा के गीतो की स्वर-लिपि मे इधर-उधर भूल मे लग गए कर्कश विवादी-स्वर भी सहृदय काव्य-मर्मज्ञो के लिये केवल मनोरजन तथा विनोद ही की सामग्री होगे।

'ममजीवन' की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८) गीताजलि के 'अन्तर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस मे मेरे एक मित्र 'गीताजलि' के उस गीत को अक्सर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी। कई कारणो से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियो को "पल्लव" से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योकि यह उतना अच्छा नही।

"सरस्वती" की मई मास (१६२७) की सख्या म प्रकाशित 'आज-कल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक लेख द्वारा, अभी हाल ही मे 'सुकवि-किकर' के नाम से किसी वृद्ध-उद्भट-साहित्याचार्य ने, केवल 'हित-चिन्तना की दृष्टि से' हिन्दी के नवीन छायावादी (?) कवियो को जिस बुरी तरह, घोर गर्जन-तर्जन के साथ फटकारा है, तथा समय-समय पर, दो-एक और भी पुराने प्रचण्ड-धूम-केतु, अपनी अस्तोन्मुख-प्रतिभा की क्षीण-मलीन ओर-छोर-व्यापी धूमिल-पूँछ की अव्यर्थ—फटकार से, हमारे टिमटिमाते हुए मरकत-दीपो के खद्योताकाश मे जिस प्रकार भयंकर उत्पात-उपद्रव मचा रहे हैं, उसे देख कर भी मैने जो यह 'ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी पक्तियो का, रग-बिरगी बेल-बूटो से अलकृत' नवीन-संग्रह इतनी जल्दी छपवाने का दु साहस किया, उसका कारण है।

व्यास, कालिदास के होते हुए, तथा सूर-तुलसी के अमर-काव्यो के रहते हुए भी, ये कवियशोलिप्सु, कवित्व-हन्ता छायावाद के छोकड़े, कमल-यमल अरविन्द-मलिन्द आदि अनोखे-अनोखे उपनामो की लागूल लगा, कामा फुलिस्टापो से जर्जरित, प्रश्न-आश्चर्य-चिह्नो के तीरो से मर्माहत, कभी गज-गज भर लम्बी कभी दो ही दो अगुल की, टेढी मेढी, ऊँची-नीची, यति-हीन, छन्द-

हीन, शब्द-अर्थ-तुक-शून्य, काली-काली सतरो की चींटियो की टोलियाँ, तथा, अस्पृश्य-काव्य के गुह्यातिगुह्य-कच्चे-घरोंदे बना, तालपत्र, भोजपत्र को छोड, बहुमूल्य कागज•पर, मनोहर टाइप मे, अनोखे-अनोखे चित्रो की सजधज तथा उत्सव के साथ छपवा कर, जो विन्ध्यस्तरेत् सागरम् की चेष्टा कर रहे है, यह सरासर इनकी हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता तथा हम चुना दीगरे नेस्ती के सिवा और क्या हो सकता है ? घटाना निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलह : ? मेरा तो किस्सा ही दूसरा है । एक तो मै अभी तक उर्दू-शायरो के असाध्य-रोग से ग्रस्त नही-यद्यपि 'सुकवि किंकर' जी के लेख को पढ कर अब अभी-कभी मुझे 'कण्ठीरव' उपनाम रख लेने की बडी इच्छा होती है,—उस सारे लेख मे मुझे बस यही शब्द पसन्द भी आया—दूसरे, मै अपने अन्य मिस्टिक—मित्रो की तरह तटस्थ नही हूँ । फिर चाणक्य की प्रकृति के लोग 'साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीन ' कह कर डर भी दिखाते हैं ! सुकवि किंकर जी स्वय न्याय करे कि बिना 'कण्ठा भरण' तथा लघु-कौमुदी' पढे, बिना कुछ अध्ययन, मनन, अनुभव अध्यवसाय के, सहज ही मे, अपने आप हो जाने वाली, इस छायावाद की कविता को लिखना छोड़ कर, एक दम 'पुच्छविषाणहीन पशु' बन जाना कहाँ तक बुद्धिमानी है ? क्या यह 'पुच्छविपाण-हीन पशु' 'पचतत्र' के लेखक की उस प्राचीन जीर्ण-शीर्ण लेखनी द्वारा शोभा देने वाली 'सुकवि किंकर' जी की 'कविचक्र चूडामणि चन्द्र चूड चतुर्वेदी !' इस अलकारोक्ति से किसी कदर कम भयंकर है ? यह सब सोच-समझ कर, जान पडता है, मुझे तो स्वान्त.सुखाय कुछ न कुछ लिखना ही पडेगा, नहीं तो हिन्दी मे 'उच्चकोटि की सुन्दर, सरस कविता लिखेगा कौन ?

(अगस्त १६२७) [वीणा की अप्रकाशित भूमिका—

पर्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्यिक प्रयासो को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किंतु हिंदी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत सग्रह मे अपने बारे मे स्वय लिखूँ। सभव है, मै अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठको के सामने न रख सकूँ, पर, जो कुछ भी प्रकाश मै उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने मे मदद मिलेगी। पल्लव की भूमिका मे; काव्य के बहिरग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मै, अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अतरग का विवेचन कर रहा हूँ। इस सक्षिप्त पर्यालोचन मे जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ उनके लिए सहृदय सुज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस सो सवा सौ पृष्ठो के सग्रह मे मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथो का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोड़ा बहुत आभास इससे मिल सकता है, और, सभव है, अपने युग मे प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमे मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिनका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मै घंटो एकात मे बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज मे सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश

की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव समोहन के आश्चर्य मे डुबा कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं ! और यह शायद पर्वत प्रात के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मै दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचको का यह कहना कुछ अशो तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगो के सामने आने मे लजाती है।

मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक मेरी सभी रचनाओ मे प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप मे वर्तमान है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन ?—

आदि वीणा के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओ की अभिव्यञ्जना मे अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारो की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों मे प्रायः मैने अपनी भावनाओ का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रयिक चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओ को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', 'नौकाविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झझा मे नीम' आदि अनेक रचनाओं मे मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली, नारी के रूप मे देखा है।

'उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय बाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप, जो जीव विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किंतु 'वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रसाद' निर्माण कर सकेगा जिसमें, 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी,—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

> 'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
> और कौन सा स्वर्ग चाहिए मुझे धरा पर ?'

'वीणा' और 'पल्लव', विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था, और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचार धारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

'एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन !

यही तो है असार ससार,—सृजन सिंचन, सहार !'—

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करती, बल्कि उसे जीवन की क्षणभगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी सस्कृति मे मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए है, जिसके कारण, जातिय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के सस्कारो (सेल्फ प्रिजर्वेटिव इस्टिक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारो को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की सगठित शक्ति से हट कर आकाश कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगो मे सीढी दर सीढी नीचे गिरते गए हैं।

'पल्लव' और 'गुंजन' काल के बीच मे मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक हे। इसीलिए वह पल्लव मे अपना विशेप व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिपदो के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व मे मथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओ के ससार मे कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव जीवन के अनुभवो का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप मे मृत्यु दिखाई देने लगी, वसत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपजर !

'खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण !'
'वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !'

मेरी जीव दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिये, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबडूब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम रूप गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनंद से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन!'—

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं 'पल्लव' से 'गुंजन' में अपने को सुंदरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। 'गुंजन' में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है, साथ ही 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गई है। 'गुंजन' के भाषा संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, 'गुंजन' की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। 'ज्योत्स्ना' का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज़्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुंदरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं

मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक सघर्ष को मैंने अपनी रचनाओ मे वाणी नही दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। 'गुजन' मे 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मै सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि को द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव मे स्वय निहित है। जिस प्रकार फूल मे रूप रग है, फल मे जीवनोपयोगी रस, और फूल की परिणति फल मे सत्य के नियमो ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् मे सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली सत्य मे अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओ मे उसका सम्बन्ध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबी शराब पीता है यह सत्य है, उसे शराब नही पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुवल) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखने वाला। मेरी रचनाओं मे सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा सस्कार है, आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अतर्मुखी स्वभाव (इट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। मेरे 'पल्लव' काल की रचनाओ मे, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक सघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है, और बाद की रचनाओं मे आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग मे बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी आगे की रचनाओ मे भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है।

'आते कैसे सूने पल, जीवन मे ये सूने पल,

. .. .

'खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्‌गार गुंजन मे आए हें। ऐसी अवस्था मे मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता, और मै संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारण को बुद्धि से सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं,—या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? 'ज्योत्स्ना' मे मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं मे ऐन्द्रयिक चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमश. सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। 'परिवर्तन' मे भी मैंने यही बात कही है—

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।'

'गुंजन' से पहले— जब कि मै परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अंतर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था,—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रंथि' और 'परिवर्तन' मे प्रकट हुई। जैसा कि मै पहले लिख चुका हूँ, तब मै प्राकृतिक दर्शन (नैच्युरेलिस्टिक फिलासफी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

'मानवजीवन प्रकृति संचलन मे विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित'—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार मे लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

अचिर विश्व मे अखिल,—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन, अहे विवर्तन हीन विवर्तन !'—

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमे प्रकृति के नियमो की परिपूर्णता एव सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही मे शाति मिल सकती है।

गुजन और ज्योत्स्ना मे मेरी सौन्दर्यकल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

'प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास'

या

'कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख'

अथवा

'प्रकृतिधाम यह 'तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत !'—

आदि बाद की रचनाओं मे मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत की ओर अधिक प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मै तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मै बुद्धि से भी ससार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैने 'युगात' मे लिखा है,—

'वह एक असीम अखण्ड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !'

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मै, खड-खड रूप मे, ससार को, जग जीवन के समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्यसाधना का दूसरा युग आरम्भ होता है। जीवन के प्रति एक अत-र्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के

चरणों मे प्रकाश स्तभ का काम देने लगा। जैसा कि मैने 'युगात' मे भी लिखा है,—

'...... जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर;
पार करो विश्वास चरण धर!'

अब मै मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, सश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते है।

'पल्लव' से 'गुजन' तक मेरी भाषा मे एक प्रकार के अलकार रहे ह, और वे अलकार भाषा सगीत की प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य की पुष्टि करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं मे भाषा के अधिक गर्भित (एब्स्ट्रेक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

'नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का ससार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है रूप अपार?'

की अलकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग उपकरण' 'नव संस्कृति' आदि रचनाऍ मनोरम विचारचित्र उपस्थित करती है। 'पुण्यप्रसू', 'वननाद', 'रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं मे भी विषयानुकूल अलकारिता का अभाव नही है। यदि यह मेरा सृजन आवेश मात्र नही है तो 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मेरी कल्पना, ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अंतरजीवन का' मधुर वितान तान कर, देश और काल के छोरों को मिलाने में सलग्न रही है। इस ह्रास और विश्लेषण युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज ही मे व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है, अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा रखनी भी नहीं चाहिए।

युगवाणी का रूप-पूजन समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप हैं उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावत अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी मे कहा भी है—

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जगजीवन से हो एक प्राण ।'

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक सम्बन्धो से निर्मित भविष्य के मानव संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग मे जीवन कला का अनुगामी होता है। 'युगवाणी' मे यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वय ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह मे अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य सगीत भी खो बैठते है, उन्हे सजाने की जरूरत पडती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण सगीतमय एव अलकृत होते हैं। क्योकि उनका रूप चित्र अभी सद्य होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसीसे उनकी अभिव्यजना से अधिक उनका भावतत्त्व काव्यगौरव रखता है।

'तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलङ्कार'

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि सक्रातियुग की वाणी के विचार ही उनके अलकार हैं। जिन विचारो की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते है, उडने वाले प्राणियो की तरह, स्वय हृदय मे घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारो के ऐश्वर्य से सालकार, और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलकार विकसित और साकेतिक हो जाएँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नही रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध, और नवीन विचारो का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलकृत सगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना मे छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना मे पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव-शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परपरागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किंतु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नही कर सका था। उसमे व्यावसायिक क्राति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नही आई थी। उसके 'हास-अश्रु, आशाऽकाक्षा 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेक्नीक और आवरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दो मे नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता, छायावाद के रूप मे ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवो, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियो, ऐहिक जीवन की अकाक्षाओ सबंधी स्वप्नो, निराशाओ और संवेदनाओ को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर मे, सुख-दुख मे, आशा-निराशा, और सयोग-वियोग के द्वन्दों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमे निरपेक्ष की जय के रूप मे गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता दुरूहता, सघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कट कर अलग हो गई है। किंतु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असंतोष के संबध मे न रख कर वर्ग एव सामाजिक जीवन की परिस्थितियो से सबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवी सदी का उत्तरार्ध इगलैंड में मध्यवर्गीय सस्कृति का

चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमे विश्लेषण के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और उत्तरयुद्धकालीन अँग्रेजी कविता, दोनो, भिन्न-भिन्न रूप से, इस सक्रातियुग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ है।

'पल्लव' काल मे मै उन्नीसवी सदी के अँग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योकि इन कवियो ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय सस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की, सौन्दर्य-कल्पना ही मे परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का नारा भी रहा है। इस प्रकार मै कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconsious-conscious process है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियो की निधियो का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अङ्ग बताने की चेष्टा की है।

ऊपर मै एक अखड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मै जानता हूँ कि वह केवल सामत युग की सास्कृतिक भावना थी जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नही बल्कि बाहर के जगत मे थे। इस बात को 'ग्राम्या' मे मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

'गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव !'
'वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर !'

'युगात' के 'बापू' ('बापू के प्रति') सामत युग के सूक्ष्म के प्रतीक है, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' मे) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गए हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

'हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !'

भावी सास्कृतिक क्राति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल मे पैदा हुए, किन्तु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमे सक्रान्ति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन

में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नो को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी दयानन्द जी सुधारवादी थे जिन्होने मध्ययुग की सकीर्ण रूढि-रीतियो के बधनों से द्रस जाति और सम्प्रदायो मे विभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सास्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है।

'युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव सस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे मे लिखते भी हैं, "मै समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता मे व्याप्त एकता की सत्य का संदेश देना है।" डा० टेगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव शास्त्र (एथ्रोपोलॉजी), विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशो और जातियो की सस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव जाति के लिए विश्व सस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारो से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं मे प्रकारातर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओ से भिन्न-भिन्न देशों और जातियो के मनुष्य में परस्पर का सपर्क बढ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव जाति के आतरिक (सास्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सास्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच, ससार में, सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एक देशीय, एक जातीय और अतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग मे, तभी सफल हो सकते हैं जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धान्तों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हो।

'विश्व सभ्यता का होना था नखसिख नव रूपांतर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल!'

आनेवाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण मे आमूल परिबर्तन लाना चाहता है। वह सामत युग से सगुण (सास्कृतिक मन) से मानव चेतना का मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक सस्कारो का यन्त्रयुग का विकसित परिस्थितियो और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्याकन करना चाहता है। वह मानव सस्कृति को एक सामूहिक विकास प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन' से इसी प्रकार के युग परिवर्तन की सूचना मिलता है। दूसरे शब्दो मे, आने वाले युग मनुष्य समाज का वैज्ञानिक ढग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधान भी मानव जाति की नवीन जीवन कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न मे सलग्न हैं। जिस सक्राति काल से मानव सभ्यता गुजर रही है उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्वव्यापी युद्ध के रूप मे, जैसे, विज्ञान, भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गो और स्वार्थो मे विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जन में निवास') का सहार कर रहा है। वह भविष्य में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। ग्राम्यो मे १६४० सन् को सबोधन करते हुए मैने लिखा है—

'आओ हे दुर्धर्ष वर्ष, लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन !'

सभ्यता के इतिहास मे और भी कई युग बदले हैं और उन्ही के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अतर और बहिर्जगत के सबध मे परिवर्तित हुई है।

'पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति,
थी रूद्रचरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति।
श्रीराम रुद्र की शिव मे कर जन हित परिणत
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीता-पति।'

श्री राम, इस दृष्टि से, अपने देश मे कृषि-क्राति के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एव सुव्यवस्थित

कृषि-जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियो की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि सस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और सस्कृति अपने उत्कर्ष के युग मे ससार को जो कुछ दे सकती थी,—उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूप-रग—उस युग की विशद भावना बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़ कर, जैसे, उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामंत युग की सस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नही सकता था।

मर्यादापुरुषोत्तम के स्वरूप मे कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति संबधी सात्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय सस्कृति के बहुमूल्य पट मे विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्नजड़ित राजसी बेलबूटो से अलकृत कर दिया। कृष्ण युग की नारी भी हमारी विभव युग की नारी है। वह 'मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नही,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामत युग की नैतिकता के तंग आहाते के भीतर, श्रीकृष्ण ने. विभव युग के नर-नारियों के सदाचार मे भी, क्राति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग में, फिर से गोप-संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।

भारतीय सस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग मे देखने को मिलता है वह श्री तुलसी के रामायण मे सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग मे सस्कृति के सरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य सस्कृतियों के ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय सस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियों, संप्रदायों,

सघो, मतों, रूढि रीति नीतियो और परपरागत विश्वासो के रूप मे जम कर कठोर एव निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण, जनसाधारण मे देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, ससार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद वैराग्य भावना आदि, ह्रासयुग के अभावात्मक विचारो और आदर्शों का प्रचार बढने लगा। जिस प्रकार कृषि युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अतर्बाह्य चेतना मे प्रकारातर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यन्त्र का आगमन सामत युग की परिस्थितियो मे आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामत युग में भी, समय-समय पर, छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युग की गण सस्कृतियो का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक, और धार्मिक क्रातियाँ हुई हैं, किन्तु, उन सब के नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्तयुग की परिस्थितियो ही ने प्रभावित किया है। भविष्य मे इस प्रकार के सभी प्रयत्नो से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक सिद्धातो और मानों को यंत्र युग की आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो उन्नीसवी सदी के सकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का, मानव सभ्यता के अतर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय हे।

> **'दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,**
> **अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।'**

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता मे परिणत करने योग्य नवीन तन्त्र (स्टेट) का भी विधायक है।

> **विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,**
> **युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।**
> **सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,**
> **नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।'**

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप हथियारो और यंत्रों का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान मे

भी युगांतर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान विज्ञान, कला यन्त्रों का अद्भुत कौशल' दिया है उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज, जब कि संसार में इतिहास का सब से बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फासिज्म है—शायद, अंत भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। मनुष्य स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानव जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकास प्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए, सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अंधकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्न स्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।

> राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
>
> . . . .
>
> 'आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
> खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यंत्रों का पक्ष भी मैंने इसीलिए ग्रहण किया है कि वे मानव समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड नहीं यंत्र, वे भाव रूप संस्कृति द्योतक ।

. ...

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित ।

... .

दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड मानव कृत,
वे हैं अमूर्त . जीवन विकास की कृति निश्चित ।'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु- परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है । यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सके तो हमारी आंतरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायँगी ।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अंतर दर्पण ।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन ।'

जब हम कहते हैं कि आने वाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है तो वह अंतर्बहिर्मुखी दोनों प्रकार का होगा । सामंत युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामंत काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है । यन्त्र युग की सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी ।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पॉजिटिव) धारणा नहीं बनाई जा सकती । मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है । मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबन्ध में वस्तु-जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती है । मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता

है, अथवा उनके उपयोग के लिये जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती है, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से सम्बद्ध है।

हम आने वाले युग के लिये 'स्थूल' को (यन्त्र युग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियो के प्रतीक को) इसलिये 'सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानो का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सास्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्वों से बनी है, और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते हैं वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का।

'स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य' स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण!' सामत युग मे जिस प्रकार सामाजिक रहन सहन और शिष्टाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा मे विकसित व्यक्ति से जनसाधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनी चाहिए न कि सामत युग के लिये उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जनसमूह गुण अब विकसित,'— सामत युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियो के कारण, तथोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था।

आने वाला युग सामत युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अशों मे मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारो सम्बन्धी सामतकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सास्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।
.. ..
देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, विकसित।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक सस्कारों के लिये अधिक विकसित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजो मे जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'
'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक सस्कारो के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण के परिवर्तन की ओर सकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर सामाजिक सगठन की ओर, और जरा-मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था मे जिसमे कि अधिकाधिक मनुष्यो को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए प्रर्याप्त साधन मिल सकते है और वे वर्तमान युग की सरक्षण-हीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सास्कृतिक एव आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन यत्रो की सामाजिक उपयोगिता बढा कर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक सघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामतवादी सास्कृतिक मानो की सकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नही रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एव परिवर्तित हो गई हैं। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन आवश्यकताओ का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए केवल सास्कृतिक सघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायगा। प्रत्येक धर्म और सस्कृति ने अपने देश काल से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (सपूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक सम्बन्धी) दुख और भय के सस्कारो से लाभ उठा कर, उसकी चेतना मे धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किए हैं जो कि सामत युग की परिस्थितियो को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था। इस प्रकार प्रत्येक युग पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामत कालीन उदात्त नायक के रूप मे हमारे साहित्य के 'सत्य शिव सुन्दरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस

युग के सगुण से सम्बन्ध रखने वाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षत कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य शिव सुन्दर की भावनाओं पर भी पड़ता है। मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो जाएँगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जाएगा, व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जाएगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वत: कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती में चिपकाए हुए हैं और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की संपत्ति समझी जाती रही है। स्त्री स्वातन्त्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार सम्बन्धी आंदोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।

योनि नही है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित ।'

हमे यह नही भूलना चाहिए कि ससार अभी सामत युग की क्षुद्र नैतिक और सास्कृतिक भावनाओ ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यत्र युग प्रतिष्ठित नही हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियो म विकसित सामाजिक सामञ्जस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एव 'सत्य शिव सुन्दरम्' की धारणाओ मे प्रकारातर उपस्थित कर सकेगा ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्म दर्शन मे मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पडा, क्योकि मैने दोनो का लोकत्तर कल्याणकारी सास्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियो के सगठन, वर्ग सघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रातियॉ ही कर सकती हैं, मैने अपनी कल्पना का अग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एव सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदात मे मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन मे भी। भारतीय दार्शनिक जहॉ सत्य की खोज मे, सापेक्ष के उस पार, अवाङ्मनस गोचर' की ओर चले गये है वहॉ पाश्चात्य दार्शनिको ने सापेक्ष के अन्तस्तल तक डुबकी लगा कर, उसके आलोक मे, जन-समाज के सास्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम मे वैधानिक सघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहॉ हो सका है।

फ्रॉयड जैसे अतरतम के मनोवैज्ञानिक 'इड के विश्लेषण म सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नही देते है। वहॉ अवचेतन (अनकासस) पर, विवेक का नियन्त्रण न होने के कारण, वे भ्राति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता-पूर्वक पहुँच कर 'तदतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके है।

मै, अध्यात्म और भौतिक, दोनो दर्शन सिद्धान्तो से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामत कालीन परिस्थितियों के कारण जो एकात

परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग युद्ध और रक्त-क्रांति में परिणत हुई है,—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत का—जिसका सम्बन्ध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार-विचार, रीति-नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है—विकास किस प्रकार हुआ इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्य शिवं सुंदरम्' का बोध सापेक्ष है, परम सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है, सामंत कालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु दर्शन (ऑबजेक्टिव फिलॉसफी) के सिद्धान्तों पर इतना ज़ोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन युग में भाव दर्शन (सबजेक्टिव फिलॉसफी) की—जो कि अभ्युदय और जागरण युग की चीज़ है—उपयोगिता प्रायः नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के तथा कथित ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखा सहित, उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्य-

कालीन आकाशलता शताब्दियो के अन्धविश्वासो, रूढियो, प्रथाओ और मत-मतातरो की शाखा-प्रशाखाओं मे पुँजीभूत और विच्छिन्न होकर, एव हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धातो को ग्रहण किए बिना, हम मे वह मानवीय एकता, जातीय सगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तरदायित्व, परीक्षा और विपत्तियो का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नही आ सकती, जिसको कि हमारे सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एव निर्माण काल मे सस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियो की वास्तविकता ही मे होते है, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ-साथ, विकास एव उत्कर्ष काल मे, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सास्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगो की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी सस्कृति को, नवीन जन्म के प्रयास मे, फिर से अधोमूल होना ही पडेगा। हम शताब्दियो से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इटरप्रटेशस) देते आए है, अब उस सामत युग की, नवीन वस्तु स्थितियो के अनुरूप, रूपातरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योकि विगत युगो की वास्तविकता आज तक मात्राओ मे घट-बढ रही थी, अब वह प्रकार मे बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

'अन्तर्मुख अद्वैत पडा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता मे परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन अद्वैतवाद के सत्य को देश-काल के भीतर (संस्कृति के रूप मे) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामत युग की परिस्थितियो के बाहर था। उसके लिए

एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर जगत में स्थापित किए हुए था, अब उसे, एक सर्वाङ्गपूर्ण तन्त्र के रूप में, वह बहिर्जगत में स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामंत युग के स्वर्ग की अंतर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सृजन शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जाएगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, हे!'

भौतिक जगत की प्रारंभिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित 'आदिम मानव' का हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूब कर आलोकित हो जाएगी यंत्रयुग के साथ-साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्ण युग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो, यह कहीं अच्छा है कि, इस 'दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित', जाति वर्गों में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अन्त हो जाय। किंतु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग-युग के दार्शनिक और कवि गाते आए हैं, जिसके

क्रिया कलापो और चमत्कारो का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध है, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी का गौरव मानव जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाए रहेगी, इस पर किसी तरह विश्वास नही होता।

इन्ही विचारधाराओ, स्वप्नो और कल्पनाओ से प्रेरित होकर मैने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। 'ग्राम्या' के लिए 'युगवाणी' पृष्ठभूमि का काम करती है। 'ग्राम्या' की भूमिका मे मैने ग्रामीणो के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचको ने मुझ पर आक्षेप किए है। 'ग्राम जीवन मे मिल कर, उसके भीतर से' मै इसलिए नही लिख सका कि मैने ग्राम-जनता को 'रक्त मास के जीवो' के रूप मे नही देखा है, एक मरणोन्मुखी सस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामो को सामत युग के खॅडहर के रूप मे।

'यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, सस्कृति से निर्वासित!'
'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत, मर्मान्तक
सदियो के अत्याचारो की सूची यह रोमाचक!'

इसी ग्राम को मैने 'ग्राम्या' की रंगहीन रगभूमि बनाया है।

'रूढ़ि रीतियो के प्रचलित पथ, जाति पॉति के बन्धन,
नियत कर्म है, नियत कर्मफल,—जीवन चक्र सनातन!'

सास्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय अप्रिय या सत्य मिथ्या के बोध से उनका जीवन परिचालित होता है उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

'ये जैसे कठपुतले निर्मित.. युग-युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गति विधि करती यन्त्रित!'—

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैने ग्रामीणों को भावी के 'स्वप्नपट' मे चित्रित किया है, जिसमे—

'आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रन्दन
भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।

ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किंतु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार-धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन।'

या

'वृथा धर्म गण तन्त्र—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन'

अथवा

'इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज'

आदि पंक्तियाँ हार्दिकता में शून्य नहीं हैं। यदि मुझे सामंत युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता,—'इस तालाब में (जन मन में) काई लग गई है, इसे हटाना भर है, इसके अन्दर का जल अभी निर्मल है।'—जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर मैंने लिखा है,—'इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा।'—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का जीवन' भी कहा है। जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के',

'घट बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अन्तर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग संस्कार हैं जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जन समूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि-रीतियों एवं अंधविश्वासों के रूप में पथराए हुए (फॉसिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेतन और सक्रिय हैं। ग्राम्या के दरिद्रनारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड़ और अचेतन।

'वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के संबंध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बाएलॉजिकल थॉट) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से, जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं पराधीन देश का कवि हूँ। लारेंस जहाँ द्वन्द्व पीड़न (सेक्स रिप्रसन) से मुक्ति चाहता है, मैं राजनीतिक आर्थिक शोषण से। फिर भी, मुझे विश्वास है कि, 'ग्राम्या' को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन? मृत्यु नीलिमा गहन गगन?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन?

देखो भू को, स्वर्गिक भू को !
मानव पुण्य प्रसू को !'—

इसी लक्ष्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े अकास दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है, और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति धर्म, दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड-खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

'किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अंतर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धांतों की जन-समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया। और

'वस्तु विभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलंबित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय से सामंत युग की तद्र चेतना का बोध डूब जाय ! साथ ही अभाव पीड़ित जन-समूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सात्विक विकास (सब्लिमेशन) किया जा सकता है। इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे संदेह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्तवासना का लाछन मध्यवर्गीय (बुर्ज्वा) मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा (संपत्ति) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है, और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे सका है जिन पर अवलंबित सामाजिक संबंधों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का

नवोन सास्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सास्कृतिक हृदय।'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने मे सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के अर्थ मे कर रहा हूँ जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमो का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूपनाम होते परिवर्तित युगपत्।' मै यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास मे बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अतर्चेतना (साइकी), तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

'जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वय प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किंतु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकासस) के आश्रित विगत सास्कृतिक गुणो की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम बाह्य सघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित अवचेतन (अनकासस) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सका है उनका मैंने ऊपर, सक्षेप मे, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मै कल्पना के सत्य का सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि, 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियो में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को

प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग मे विचार (आइडिया) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग मे कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नसवी सदी मे कला का कला के लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्य मे विचार क्राति का युग नहीं था। किन्तु क्या चित्रकला मे, क्या साहित्य मे इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीको का प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य मे अधिक सगतिपूर्ण ढग से किया जा सकेगा। जागरण युग के कवियो मे, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यत सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं मे सामत युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, सगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एव साहित्य स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे सपन्न देश का समस्त सामतकालीन वाङ्मय, अपने युग के सास्कृतिक समन्वय का विश्वव्यापी स्वप्न देखने के लिए, बुझने से पहले, जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि आलोकित प्रदीप की तरह एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश से ससार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हू कि इस विश्लेषण युग के अशात, संदिग्ध, पराजित एव असिद्ध कलाकार को विचारो और भावनाओ की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एव यथासभव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य मे उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोने को सुगंधित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धातों का पक्षपाती है। इसमे सदेह नही कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की संपूर्ण अंशों मे पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख, दुःख, नैराश्य, विछोह आदि की भावनाएँ उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण विशेषता, प्रतिभा आदि

का किसी भी सामाजिक जीव के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमे भी सदेह नही कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का, परस्पर के सौहार्द्य और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दुखो पर भी अनुकूल ही प्रभाव पड़ सकता है और उसकी प्रतिभा एव विशिष्टता के विकास के लिए उसमे कही अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति विशेष का समाधान करती है जो यत्रयुग के प्रथम चरण पॅजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गो के रूप मे पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास मे दूसरा नही मिलता। मध्ययुगो की 'अन्न वस्त्र पीडित, असभ्य, निर्बुद्धि, पक मे पालित' जनता का इस वाष्पविद्युद्गामी युग में सपूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नही है। युगवाणी का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक (कासस एड कलक्टिव) कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव रूप कर्म' का सदेश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढि रीति-नीतियो से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव उसे किसी समाज और युग मे मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म मे किसका प्रथम स्थान है, हीगल की 'आइडिया' प्रमुख है कि मार्क्स का 'मैटर' ऐसे तर्क और उहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवी सदी के शरीर और मनोविज्ञान सम्बन्धी अथवा आदर्शवाद एव वस्तुवाद सम्बन्धी विवादों की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद सम्बन्धी मतभेद भी एकागी है। आधुनिक, भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनो ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने मे सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं।

× × ×

आज इस सक्षिप्त 'वीणा-ग्राम्या' चयन के पृष्ठो पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पड़ता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है वहाँ मै भावी मानवता के सत्य को सफलता पूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ मै,

किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मैं केवल आंशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायन जी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, ऑल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतांतरों द्वारा, इस संदिग्धकाल के घृणा द्वेष-कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न, कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जाएँगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व निर्माण में निरत, मानवता से अपनी सृजन सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यंत सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबन्ध में लिखने में यदि कहीं, ज्ञात अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ, मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धांतों का विस्तार पूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में मैं 'ग्राम्या' की अन्तिम 'विनय' से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ,—

'हो धरिणी जनों की जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर!'

१५ दिसंबर १९४१) [आधुनिक कवि भाग २ से—

दृष्टिपात

'युगवाणी' का तीसरा सस्करण पाठको के सामने प्रस्तुत है। इसमे मै युगवाणी के कलापक्ष के सम्बन्ध मे दो शब्द लिखकर, पाठको की सुविधा के लिए, युग दर्शन के प्रमुख तत्त्वो पर भी प्रकाश डाल रहा हूँ।

'युगवाणी' को मैने गीत गद्य इसलिए नही कहा कि उसमे काव्यात्मकता का अभाव है, प्रत्युत, उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलकृत तथा विचार भावना प्रधान है। युग के खँडहर पर 'युगवाणी' का काव्य सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला-प्रमी, ध्वस के ढेर से दृष्टि हटा कर, सहज ही देख सकते हैं।

युगवाणी की भाषा सूक्ष्म है, उसमे विश्लेषण का सौन्दर्य है। जिस परंपरागत मधुवन को हम पल्लवो के मर्मर से लज्जारुण और फूलो के रग गुंजन से यौवन गर्वित देखते आए है उसकी दक्षिण पवन (काव्य प्ररणा ?) शिशिर मे ठढी उसासें भर, आज ढेर-ढेर पीले पुराने पत्तो को युग परिवर्तन की आँधी मे उड़ा कर,—जैसे, उन टूटते हुए स्वप्नों पर स्थिर चरण न रख सकने के कारण ही प्रलय नृत्य करती हुई,—नई सस्कृति के बीज बिखेर रही है! 'युगवाणी' मे आप टेढी-मेढी पतली ठूँठी टहनियो के वन का दूर तक फैला हुआ 'वासासि जीर्णानि विहाय', सौन्दर्य देखेंगे, जिससे नव प्रभात की सुनहली किरणे बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं, जहाँ ओसों के झरते हुए अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा मे हँसते हुए से दिखाई देते हैं, जहाँ शाखा-प्रशाखाओ के अतराल से—जिनमे अब भी कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुए हैं—छोटे-बडे, तरह-तरह के, भावनाओं के नीड़, जाड़ो की ठिठुरती काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर, नवीन कोपलो से छनते हुए नवीन आलोक तथा नवीन ऊष्णता का स्पर्श पाकर, फिर से सगीत मुखर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीडे चाट जाते हैं, उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्य चकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य स्क्रांति की झाँकी आप 'युगवाणी' में भी पाएँगे। तब आप सहज ही 'युगवाणी' के स्वरों में कह उठेंगे—

सदियों से आया मानव जग में यह पतझर !

और,—

जीवन वसंत तुम, पतझर बन नित आती,
अपरूप, चतुर्दिक सुन्दरता बरसाती !

'युगवाणी' में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती हैं,—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं —

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

(३) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रॉयड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव : जन समाज का पुन संगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार।

(५) बहिर्जीवन के साथ अंतर्जीवन के संगठन की आवश्यकता . राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।

'युगवाणी' की कुञ्जी उसकी बापू शीर्षक पहली कविता में है,—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !

मानव-जीवन एवं समाज का रूपांतर करने तथा पृथ्वी पर मानव स्वर्ग

बसाने का वस्तु-स्वप्न नवीन युग की भावात्मक देन है। मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य जीवन-सत्य की अवहेलना कर जगत को माया या मिथ्या कहा है और आधुनिक भूतदर्शन जिस प्रकार अन्तर्जीवन सत्य की उपेक्षा कर उसे बहिर्जीवन के अधीन रखना चाहता है, युगवाणी मे इन दोनो एकागी दृष्टिकोणो का खडन किया गया है।

लोक-कल्याण के लिए जीवन की बाह्य (सप्रति राजनीतिक आर्थिक) और आभ्यतरिक (सास्कृतिक आध्यात्मिक) दोनो ही गतियो का सगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनो मे सन्तुलन होना चाहिए। जहाँ एक ओर असख्य नगे भूखो का उद्धार करना जरूरी है वहाँ पिछली सस्कृतियो के विरोधो एव रीति-नीतियो की शृखलाओ से मुक्त होकर मानव चेतना को, युग उपकरणो के अनुरूप, विकसित लोक-जीवन निर्माण करने मे सलग्न होना है।

'युगवाणी' को विश्वमूर्ति कहा है, जिससे वह जातिगत मन से मुक्त होकर विश्वमन एव युग के लोकमन को अपने स्वरो मे मूर्त कर सके. मनुष्य की अतर्चेतना मे जो सत्य अभी अमूर्त है उसे रूप दे सके. जीवन सौन्दर्य की जो मानसी प्रतिमा आज अतर्मन मे विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन मे साकार कर सके, और हमारा मन. स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आए। कही-कही भावी जीवन की कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है। यथा, अब छदो और प्रासो मे सीमित कविता विश्व जीवन के रूप मे बहने लगी है, मानव जीवन ही काव्यमय बन गया है : कलात्मक भाव जीवन की वास्तविकता मे बँध गए हे। ऐसे ससार मे, जहाँ सास्कृतिक शक्तियाँ उन्मुक्त हो गई हैं अब जीवन सघर्षण एव समाज-निर्माण का श्रम सुखद सुन्दर लगता है।

इस युग के असगठित जीवन को अधकार कहा है, सगठित मन को प्रकाश। विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया हे, जिससे देव बनने के एकागी प्रयत्न मे हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन मे पशुओ से भी नीचे न गिर जायँ। देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहे और मानव दुर्बलताओं के भीतर से अपना निर्माण एव विकास कर सके। नवीन समाज की परिस्थितियाँ हमे आदर्शों की ओर ले जाने

वाली हो। हमारा मन युग-युग के छायाभावो से सत्रस्त न रहे, हम आज के मनुष्य की चेतना का, जो खड युगो की चेतना है, विकसित विश्व परिस्थितियों के अनुरूप संगठन एव निर्माण कर सकें।

अपने देश मे जन-साधारण के मन में जीवन के प्रति जो खोखले वैराग्य की भावना घर कर गई है उसका विरोध कर नवीन सामाजिक परिस्थतियो के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर जोर दिया गया है। भौतिक विज्ञान के विकास के कारण भू-रचना के जिस भावात्मक दर्शन का इस युग मे आविर्भाव हुआ है उसे युग-दर्शन का एक मूल्य स्तभ माना है।

मध्ययुग आत्म-दर्शन या आत्मवाद का सक्रिय, सगठित एव सामूहिक प्रयोग नही कर सका। तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नही था, वाष्प, विद्युत्, रश्मि आदि मानव जीवन के वाहन नही बन सके थे। जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड हो गई थीं। मध्ययुगीन विचारको, सतो एवं साधुओ के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व संचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद-मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम हैं) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जायें। उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न कहे जा सकते हैं पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण-प्रयत्न (जिन्हे राम कृष्ण अवतरण कहना उचित होगा) नही थे, जिनके द्वारा विश्व सचरण मे भी प्रकरातर या युगातर उपस्थित हो सकता और जिनकी विकसित चेतना विश्व जीवन के रूप मे संगठित एवं प्रतिष्ठित हो सकती। वर्तमान युग, नैतिक उन्नयन से अधिक, इसी प्रकार के बहिरंतर रूपातर की प्रतीक्षा करता है।

रूप सत्य और कर्म के मन से मेरा अभिप्राय लोक-जीवन के सगठित रूप से और सस्कृति के रूप मे सगठित मन से है। पिछले जीवन के सगठित सत्य (सस्कृति) को जिसके मूल केवल मध्ययुग की चेतना के आकाश में हैं लोक-सग्रह से प्राणशक्ति ग्रहण करने के लिए अधोमूल बन जाना है, फिर से नीचे से ऊपर को ओर उठना है। गीता मे जिस विश्व अश्वत्थ को ऊर्ध्वमूल मधः शाखः कहा है वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण हैं जिसके अनुसार विश्व-मन (अधिमन) एव जीवन का समस्त सत्य विज्ञान भूमि में बीज रूप में संचित है,

जहाँ से वह जगत जीवन मे अवतरित एव प्रस्फुटित होता है। 'युगवाणी' में, अवतरण और विकास, दोनो सचरणों को महत्त्व दिया है। इसी प्रकार का समन्वय पाठको को 'ज्योत्स्ना' में भी मिलेगा।

सक्षेप मे मैने मार्क्सवाद के लोक-सगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनो का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारधारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के वृत्त सचरणो पर विश्वास रखती है। अत नवीन युग की भावना केवल कपोल कल्पना नही है। पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एव विकसित होता है। भविष्य मे जब मानव जीवन विद्युत् और अणु शक्ति की सबल टाँगो पर प्रलय वेग से दौडने लगेगा तब आज के मनुष्य की तर्कों वादो मे बिखरी हुई चेतना उसका सचालन करने में किसी तरह भी समर्थ नही हो सकेगी। इसलिए सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अतश्चेतना मे भी युगातर होना अवश्यंभावी है।

इस युग-विवर्तन मे अनेक अभावात्मक एव विरोधी शक्तियाँ भी काम कर रही है जो हमारे पिछले सामाजिक सबधो की प्रतिक्रियाएँ है। वर्तमान राजनीतिक आर्थिक आदोलन इन्ही विरोधों को दबाने एव नवीन भाव परिस्थितियो का निर्माण करने के लिए जन्म ले रहे हैं। एक विरोधी तत्व और भी है, जो इनसे सूक्ष्म है। वह है मनुष्य का राग-तत्त्व, जो पिछले युगो के सस्कारो से रजित और सीमित है। इस राग-तत्त्व को अपने विकास के लिए भविष्य मे अधिक ऊर्ध्व एव व्यापक धरातल चाहिए। वर्तमान नारी जागरण और नारी मुक्ति के आन्दोलन उस धरातल पर पहुँचने के लिए सोपान मात्र हैं। राग सबधी आदोलन एक प्रकार से अभी अविकसित और पिछडा हुआ है। प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान उस पर केवल आशिक प्रकाश डालता है। मनुष्य स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिए रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँच जायगा और संसार में नर-नारी सबधी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारातर हो

जाएगा। स्त्री पुरुष भौतिक विज्ञान शक्ति से सगठित भावी लोकतन्त्र मे रहने योग्य सस्कार विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी। राग सबधी इन सचरण के लिए युगवाणी मे यत्र-तत्र सकेत किया गया है।

मुझे विश्वास है इन दृष्टिकोणो से 'युगवाणी' को समझने मे पाठको को सुविधा होगी। दर्शन पक्ष के लिए आधुनिक कवि (भाग दो) की भूमिका को पढना भी उपयोगी सिद्ध होगा। इति।

(सितम्बर १९४७) *[युगवाणी से—*

प्रस्तावना

'उत्तरा' के अचल मे भूमिका के रूप मे इन थोडे से शब्दो को बॉध देना आवश्यक हो गया है, क्योकि इधर 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' को लेकर मेरी काव्य-चेतना के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की भ्रातियो का प्रचार हुआ है। इस प्रस्तावना का उद्देश्य उन तर्कों या उच्छ्वासो का निराकरण करना नही, केवल पाठको के सामने, कम से कम शब्दो मे, अपना दृष्टिकोण भर उपस्थित कर देना है। वैसे, मेरा विचार अगले काव्य सकलन मे 'युगात' के बाद की अपनी रचनाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखने का है, पर वह कल की बात है।

मेरी इधर की रचनाओ का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित् प्रयत्नो द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे सक्राति-काल की देन है और जिसने, एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र मे प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियो मे 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गए थे, 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रात चॉदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' मे युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है।

'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आंगन पर
तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर'—

'चॉदनी' को सबोधित 'ज्योत्स्ना'-'गुजन' काल की इन पक्तियो मे पाठको को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युगवाणी' तथा 'स्वर्णकिरण' काल की रचनाओ मे शायद परस्पर-विरोधी विचार-धाराओ का समावेश मिले, पर वास्तव मे ऐसा नही है।

'ज्योत्स्ना' मे मैने जीवन की जिन बहिरतर मान्यताओ का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) मे उनके रूपातरित होने की ओर

इ गित किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे उन्ही के बहिर्मुखी (समतल) सचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अतर्मुखी (ऊर्ध्व) सचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा सश्लेषण का दृष्टिकोण एव तज्जनित मान्यताएँ दोनो मे समान रूप से वर्तमान हैं और दोनो कालों की रचनाओ से, इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे यदि ऊर्ध्व मानो का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण' स्वर्ण धूलि' मे समतल मानो का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्वत एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हे। किंतु किसी लेखक की कृतियों मे विचार साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा सवेदनो से किस प्रकार आदोलित होता है, उन्हे किस रूप मे ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने मे अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।

हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओ से सबद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते है, उन्हे इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराए प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरण वादी तथा युग्मचेतना से पीडित दिखाई देती हैं। ये आलोचक अपने सास्कृतिक विश्वासो मे मार्क्सवादी ही नही अपने राजनीतिक विचारो मे कम्यूनिस्ट भी हें। मै मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सास्कृतिक दृष्टिकोण मे उसके रक्त-क्राति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ, जिसकी ओर मै 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे इगित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियो की इधर की आलोचनाओं को पढने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओ तथा व्याख्याओ से क्षुब्ध हैं और उनके लिखने के ढग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवाछनीय है।

अपने युग को मै राजनीतिक दृष्टि से जन-तन्त्र का युग और सास्कृतिक दृष्टि से विश्व-मानवता अथवा लोक मानवता का युग मानता हूँ, और वर्ग युद्ध को इस युग के विराट् सघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नही है, एक तो राजनीति के नक्कारखाने मे साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नही रखती, दूसरे, इन सभी वादो को मै युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ, ये परस्पर सघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी न किसी रूप मे अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओ के भीतर उनका उपचार भी खोजते है, और बहिरतर के दैन्य से पीडित, पिछले युगो की अस्थि ककाल रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रख कर सुखभोगकामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं। सास्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओ से अवगत तथा साधनों से असतुष्ट होने पर भी मै अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओ से परिचित एव पीड़ित हूँ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतक आर्थिक हलचलो की बाह्य सफलताओ द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नही किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आदोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, ससार मे, एक व्यापक सास्कृतिक आदोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सपूर्ण धरातलो मे मानवीय सतुलन तथा सामजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा; भविष्य मे मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक सचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जाएँगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जाएगा—अथवा राजनीतिक आदोलन सास्कृतिक आदोलनो मे बदल जाएँगे, जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओ के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्व मे मिलता है।

इस दृष्टि से मैं युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र, वर्ग-युद्ध मे भी

मानते हुए (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकर समझता हूँ), उससे कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ और सुधार-जागरण के प्रयत्नों को भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि जिस सच-रण का बाहरी रूप क्राति है उसी का भीतरी रूप विकास। अतएव युग-पुरुष को पूर्णतः सचेष्ट करने के लिए यदि लोक-सगठन के साथ गाधीवाद को पीठिका बना कर मन. सगठन (सस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना (सस्कृति) का विकसित विश्व-परिस्थितियो (वाष्प विद्युत् आदि) के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय किया जाय तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्राति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के सगीत तथा मनुष्यता की पुकार मे बदला जा सकता है; एवं क्राति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है। इस युग के क्राति विकास, सुधार जागरण के आदोलनो की परिणति एक नवीन सास्कृतिक चेतना के रूप मे होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के सपूर्ण स्तरों का रूपातर कर देगी तथा विश्व-जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदल कर सामाजिक सम्बन्धो को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी सास्कृतिक चेतना को मैं अतर्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ। मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तत्र के बाह्य रूप मे ही न देख कर भीतरी, प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ, और जनतत्रवाद की आतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अत-र्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ,—जिस अर्थ में मैने अपनी इधर की रचनाओं में इनका प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातत्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सास्कृतिक धरातल पर मै अंतर्चेतना एवं अतर्जीवन कहता हूँ। इस युग के जड़ (परिस्थितियाँ, यत्र तथा तत्सम्बन्धी राजनीतिक आर्थिक आदो-लन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्सबधी मान्यताएँ आदि) का सघर्ष इसी अतर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप मे साम-जस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। अतः मै वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप मे परिणति

सभव समझता हूँ और युग-सघर्ष मे जन-सघर्ष के अतिरिक्त अतर्मानव का सघर्ष भी देखता हूँ ।

इस प्रकार मै युग सघर्ष का एक सास्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जन-युग की धरती से ऊपर उठ कर उसकी ऊपरी मानवता की चोटी को भी अपने फडकते हुए पख से स्पर्श करता है, क्योकि जो युग-विप्लव मानव जीवन के आर्थिक राजनीतिक धरातलो मे महान् क्रातिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं मे भी आतरिक विकास तथा रूपातर उपस्थित करने जा रहा है; और जैसा कि मै 'युगवाणी' की भूमिका मे लिख चुका हूँ, "भविष्य मे जब मानव-जीवन विद्युत तथा अणु-शक्ति की प्रबल टागो पर प्रलय-वेग से आगे बढने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका सचालन करने में समर्थ नही हो सकेगी... ..बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अतर्चेतना मे भी युगातर होना अवश्यभावी है।"—इसी नवीन चेतना की मनः क्रीड़ा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशा-विश्वासप्रद प्रेरणाओ के उद्बोधन गान मेरी उधर की रचनाओ के विषय हैं, जो जन-युग के सघर्ष मे मानव-युग के उद्भव की स्वप्न सूचनाएँ भर हैं। ऐसा कह कर मै किसी प्रकार की आत्मश्लाघा को प्रश्रय नही दे रहा हूँ। 'उत्तरा' के किसी गीत मे मैने—

"मै रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुजन,
आगे आएँगे तरुण भृग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण।"

किसी विनम्रतावश नही, अपनी तथा अपने युग की सीमाओं के कटु अनुभव तथा नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर विश्वास के कारण ही लिखा है।

मेरा मन यह नही स्वीकार करता कि मैने अपनी रचनाओं मे जिस सास्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एव जिस मनः सगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियो तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की सकीर्ण परिस्थितियो के प्रतीक हैं, जिनमे मनुष्य विभिन्न जातियों, सप्रदायों तथा वर्गों मे विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सास्कृतिक मान्यताओं

के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गई है और जो मानव चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त की हुई है। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप है।

मुझे ज्ञात है कि सभी प्रकार के सुधार जागरण के प्रयत्न क्रांति के प्रतिरोधी माने जाते हैं; पर ये इस युग के वादों तथा तर्कों की सीमाएँ हैं, जिनका दार्शनिक विवेचन अथवा विश्लेषण करना इस छोटी-सी भूमिका के क्षेत्र से बाहर ही का विषय नहीं, वह व्यर्थ का प्रयास भी होगा। जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रांत नहीं हो गया है, वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जन संघर्ष (राजनीतिक धरातल) में जो युग जीवन का सत्य द्वंद्वों के उत्थान-पतन में अभिव्यक्ति पाकर आगे बढ़ रहा है वह मनुष्य की चेतना (मानसिक सांस्कृतिक धरातलों) में एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में संतुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है। जो विवेचक सभी प्रकार के मनः संगठन तथा सांस्कृतिक प्रयत्नों को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कह कर उनका विरोध करते हैं उनकी भावना युग प्रबुद्ध होने पर भी विचारधारा वादों से पीड़ित तथा बुद्धि भ्रम से ग्रस्त है।

अपने लोक-प्रेमी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवकों को ध्यान में रखते हुए, जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तथा महान् त्याग करने में समर्थ हैं, मैं इसे केवल अपने युग-मन की कमी अथवा सीमा कहूँगा। हमारा युग-मन परिस्थितियों के प्रति जाग्रत् तथा पर्याप्त लब्ध-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है, और इसके अनेक कारण हैं। हम अभी यंत्र का मानवीकरण नहीं कर सके है, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं; बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य किए हुए हैं। यंत्र-युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बन कर रह गया है. उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असंतोष से

भर दिया है, वहाँ हमारे भोग विलास तथा अधिकार-लालसा के स्तरो को उकसा कर हमे अविनीत भी बना दिया है, किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलो तथा सास्कृतिक चेतना को छू कर मानवीय गौरव से मंडित नहीं हो सका है,—दूसरे शब्दो मे, यन्त्र-युग का मनुष्य की चेतना में अभी सास्कृतिक परिपाक नही हुआ हे।

जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारको ने आत्मवाद से प्रकाश-अध होकर मानव-चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कह कर भुला देना चाहा (जिसका कारण मै 'युगवाणी' की भूमिका मे दे चुका हूँ) उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था ही मे मानते हैं, चेतन मन तथा हेतुवाद (रेशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन अवचेतन के सिद्धातो को देने लगा है—और विशेष-कर मार्क्सवादी भौतिकता के अंधकार मे और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (स मूहिक अतर्चेतना) आदि को पदार्थ का विम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अति विधान कह कर उडा देना चाहते हें; जो मान्यताओं की दृष्टि से, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणो मे सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है। किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिज़िक्स) के सिद्धान्तों द्वारा जड चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए सम्भव नही। अतएव साहित्य के क्षेत्र मे मान्यताओ की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों मे उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणो का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर ले। वास्तव मे चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरा-तल दोनो हो मानव जीवन मे अविच्छिन्न रूप से, वागर्थाविव, जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार पदार्थ का सचरण परिस्थितियो के सत्य या गुणों में अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार चेतना का सचरण मन के गुणो मे; लोक-जीवन के विकास के लिए दोनो ही मे सामजस्य स्थापित करना नितात आवश्यक है। पदार्थ, जीवन,

मन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन भर हैं, सपूर्ण सत्य इन मे परे तथा इनमें भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखडनीय है। सभ्यता के विकास क्रम मे जब मनुष्य का मन एव चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगों मे अतर्मन की मान्यताएँ भी (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर सबधी) स्वीकृत हो कर लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी हैं, तब आज उन सबका बहिष्कार कर केवल मास-पेशियो के सगठित बल पर मानव जीवन के रथ या महायान को आगे बढाने का दु साहस मेरी दृष्टि मे केवल इस युगके दुर्दा त विक्षोभ का अध विद्रोह ही है।

मै केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नही ले रहा हूँ, वस्तुवादियो के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव मे आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका सचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका विम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसको यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एव उसी को सत्य मानता है। किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनो से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या विम्ब प्रतिविम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों मे सहज ही सामजस्य स्थापित किया जा सकता है; और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओ को मानते हुए, विश्व-कर्म मे परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्मत्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपना कर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनों शिविरों का संयुक्त कर्म

भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढा सकता है।

वास्तव मे हमारी कठिनाइयो का कारण है हमारी एकागी शिक्षा तथा सदियो की राजनीतिक पराधीनता के कारण पश्चिमी विचार-दर्शन तथा साहित्य की दासता। साधारणत हमारा बुद्धिजीवी युवक—जो विदेशी सभ्यता या सस्कृति से बाहर ही बाहर प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भाडार से प्राय अपरिचित—यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिकता तथा दर्शन पिछली सामती परिस्थितियो का प्रकाश (सगठित ज्ञान) मात्र है, जिसकी इस युग में कोई उपयोगिता नही रह गई है। वह सोचता है कि इस युग के विज्ञान-दर्शन तथा मनोविज्ञान ने जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण को ऐसा आमूल परिवर्तित कर दिया है कि हमारी विकसित परिस्थितियो से उद्भूत चेतना ही मानव जीवन का नवीन दर्शन बन सकती है और आध्यात्मिकता का मोह केवल हमारा अतीत का गौरव-गान है। किन्तु इसमे तथ्य इतना ही है कि पदार्थ विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है और उसके फलस्वरूप अपनी भौतिक परिस्थितियो को वाष्प विद्युत् आदि का सजीवन पिला कर अधिक सक्रिय बना दिया है; जिनमे नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने के लिए इस युग के राजनीतिक आर्थिक आदोलनो का प्रादुर्भाव हुआ है; किन्तु परिस्थितियो की सक्रियता के अनुपात मे हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अतःसगठित न हो सकने के कारण युग के राजनीतिक आर्थिक-सघर्ष मानव सभ्यता को अभ्युदय की ओर ले जाने के बदले, विश्व युद्धो का रूप धारण कर, भूव्यापी रक्तपात तथा विनाश ही की ओर अग्रसर करने मे सफल हो सके है, और सहार के बाद निर्माण के क्षण आशाप्रद सिद्धान्त को भी अब एटमबम के भयानक आविर्भाव ने जैसे एक बार ही धराशायी कर दिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के विचारो के मन को नही छू सका है। उसने केवल हमारे भावनाओ के मन मे हलचल भर पैदा की है। पिछली दुनिया की नैतिकता अभी मनुष्य के मोहग्रस्त चरणों में उसी प्रकार चाँदी के भारी भद्दे सकीर्ण कड़े की तरह पडी हुई है, जिससे मानव चेतना का सौदर्यबोध

तथा उसकी राग भावना की गति पग-पग पर कुंठित होकर, स्त्रियों के अधिकार आंदोलनों के रूप में, आगे बढ़ने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। किन्तु मानव चेतना की नैतिक लॅगड़ाहट को दूर करना शायद कल का काम है, उससे पहिले मानव जाति के दृष्टिकोण का व्यापक आध्यात्मिक रूपांतर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अध्यात्मवाद का स्थान मानव के अंतरतम शुभ्र शिखरों पर सदैव के लिए वैसा ही अक्षुण्ण बना हुआ है और रहेगा जैसा कि वह शायद पहले भी नहीं था।

भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण, क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है। दुर्भाग्यवश हमारे तरुण बुद्धिजीवी अध्यात्मवाद को बादलों के ऊपर का कोई सत्याभास मानते हैं और उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन के एक सूक्ष्म किन्तु सक्रिय सत्य के रूप में नहीं देखते। जिस प्रकार पदार्थ का एक भौतिक तथा मानसिक स्तर है उसी प्रकार उसका एक आध्यात्मिक स्तर भी।

पदार्थ तथा चेतना के धरातलों पर व्यर्थ न विलम (रुक) कर हमारे युग को—और ऐसे युग सभ्यता के इतिहास में सहस्रों वर्षों बाद आते हैं—वैयक्तिक सामूहिक आवश्यकताओं के अनुरूप इन दोनों मौलिक संचरणों में नवीन सामंजस्य स्थापित कर, एवं जीवन के शतदल को मानस जल के ऊपर नवीन सौंदर्यबोध में प्रतिष्ठित कर, उसमें पदार्थ की पंखड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य (विकास) भरना ही होगा। जीवन निर्माण के आवेश में बह जाने के कारण तथा भौतिक दर्शन के अपर्याप्त दृष्टिकोण के कारण, इस युग के साहित्य में और भी अनेक प्रकार की भ्रांतियों का प्रचार हो रहा है। यदि पुरानी दुनिया (मध्य युग) अति वैयक्तिकता के पक्षपात से पीड़ित थी तो नई दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है, जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालांतर में मनुष्य की सुख-शांति एक किमाकार यांत्रिक तंत्र के दुःसह बहिर्भूत भार से दब जाएगी और वैयक्तिक अतः

सचरण का दम घुटने लगेगा। हमे व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतत्र अन्योन्याश्रित सिद्धातों की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरतर्मुखी प्रवृत्तियो के विकास और सामजस्य के आधार पर ही विश्वतत्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनो सचरणो की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशाति को जन्म देना होगा। इसमे सदेह नही कि सभ्यता के विकासक्रम मे जब हमारा मनुष्यत्व निखर उठेगा एव जठर का सघर्ष उत्पादन वितरण के सतुलन मे निःशेष या समाप्तप्राय हो जाएगा, मनुष्य का बहिर्जीवन उसके अतर्जीवन के अधीन हो जाएगा, क्योकि मनुष्य के अतर्जीवन तथा बहिर्जीवन के सौन्दर्य मे इतना प्रकारातर है जितना सुन्दर मास की देह तथा मिट्टी की निर्जीव प्रतिमा मे!—किन्तु यह कल का स्वप्न है।

तथोक्त गहन मनोविज्ञान-सबधी निरुद्ध भावना, काम ग्रंथि आदि के परिज्ञान ने हमारी उदात्त भावना, आत्म-निग्रह आदि की धारणाओ के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उन्नयन का अर्थ दमन या स्तभन, सयम का आत्मपीड़न या निषेध तथा आदर्श का अर्थ पलायन हो गया है। उपचेतन अवचेतन के निम्न स्तरो को इतनी प्रधानता मिल गई है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरो के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धिजीवी अपरिचित ही रह गया है, भारतीय मनोविश्लेषक इड, लिबिडो तथा प्राण चेतना सत्ता (फ्रॉयडियन साइको) के चित्र-आवरण को चीर कर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है,—'केनेषित पतित प्रेषित मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?' किन्तु हमारे निष्प्राण प्रेरणा शून्य साहित्य मे उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहकार-प्रदर्शन, लाछन, तथा घात प्रतिघात का क्षेत्र बन गई हैं, जिससे हम कुंठित बुद्धि के साथ संकीर्ण हृदय भी होते जा रहे हैं।

इस प्रकार की अनेक भ्रातियों तथा मिथ्या धारणाओं से आज हमारी सृजन-चेतना पीड़ित है और प्रगतिशील साहित्य का स्तर संकुचित होकर प्रति-दिन नीचे गिरता जा रहा है। हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़ कर अपने देश का प्रशांत गंभीर, प्रसन्न मुख

देखना ही नहीं चाहते। हममें अपनी भूमि के विशिष्ट मानवीय पदार्थ को समझने की क्षमता ही नहीं रह गई है। हम इन सदियों के खंडहर का बाहरी दयनीय रूप देख कर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते हैं और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देख कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है, एक बार संयुक्त प्रयत्न कर हमें इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गंभीर परिपक्व आत्मा को, उसके अंत सौन्दर्य से तपोज्वल शांत सुन्दर मुख को पहचान कर अपने अंत:करण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा। तभी हम अन्य देशों से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियों को यथोचित रूप से ग्रहण करने एवं अपने संचय को उन्हें देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण में जाग्रत सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्य युगों से हमारे देश के मन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ, संकीर्णताएँ तथा दुर्बलताएँ घर कर गई हैं, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण हैं, कुछ हमारी सामंत संस्कृति के बाहरी ढांचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ, और कुछ उत्थान के बाद पतन वाला जीवन की विकासशील परिस्थितियों पर प्रयुक्त सिद्धान्त। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियों एवं स्थलों पर इस युग के हमारे बड़े-बड़े विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अंतश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता, और यह मेरा अतीत का गौरवगान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि मात्र है।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धान्त अंतर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त

होना जीवन-सत्य का सहज अतर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नही की जा सकती जिसमे ऐक्य और वैचित्र्य सयोजित न हो। इसलिए देश प्रेम अतर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए मै सोचता हूँ कि भारत पर भावी विश्व निर्माण का कितना बडा उत्तरदायित्व है। आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अत स्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियो, बुद्धिजीवियो तथा लोकनायको को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-सयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गाधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तत्र या वैज्ञानिक यत्र का दान नही हो सकता, वह सस्कृति तथा विकसित मनोयत्र की ही भेट होगी। इस युग के महापुरुष गाधी जी भी अहिसा को एक व्यापक सास्कृतिक प्रतीक के ही रूप मे दे गए हैं जिसे हम मानव चेतना का नवनीत, अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते है। महात्माजी अपने व्यक्तित्व से राजनीति के सघर्ष-कटक-पुलकित कलेवर को सस्कृति का लिबास पहनाकर भारतीय बना गए है। उनका दान हम भुला भी दें, किन्तु ससार नही भुला सकेगा, क्योकि अणु मृत मानव-जाति के पास अहिसा ही एकमात्र जीवन-अवलम्ब तथा सजीवन है।

सत्य-अहिसा के सिद्धान्तो को मै अत.सगठन (सस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ। अहिसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ मे सस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओ का दृष्टिकोण है, और ये मान्यताएँ दो प्रकार की है। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक, और दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक आदशो के रूप मे विकास-क्रम मे उपलब्ध होती है। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अतस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे बहिर्गत आदर्शों को सामजस्य के हार मे पिरो कर हृदय मे धारण करने योग्य बना देती हैं।

मै जानता हू कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियो को जिन सृजनात्मक तथा सास्कृतिक शक्तियो के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के

लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की आशा थी, वैसा नही हो सका है। गाधीवाद का सास्कृतिक चरण अभी पगु तथा निष्क्रिय ही पडा हुआ है। किन्तु हम सदियो की अव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से अभी-अभी मुक्त हुए हैं। हमे अपने को नवीन रूप मे पहचानने, नवीन परिस्थितियो मे अपना उत्तरदायित्व समझने, और विश्व-क्राति की गभीरता को ठीक-ठीक आँकने मे अभी समय लगेगा। मै चाहता हूँ कि पश्चिम के देश, अपने राष्ट्रीय स्वार्थो तथा आर्थिक स्पर्धाओ के कारण, जिस प्रकार अभी तक विश्व-सहार के यन्त्रालय बने हुए है, भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श मे बँध कर, तथा अपने बहिरतर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य मे सगठित कर, महासृजन एव विश्व-निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय, और हमारे साहित्यक तथा बुद्धिजीवी, अभिजातवर्ग की सकीर्ण नैतिकता तथा निम्न वर्ग की दैन्य-पीड़ा की गाथा गाने एव मध्यवर्ग के पाठको के लिए उसका कृत्रिम चित्रण करने मे ही अपनी कला की इतिश्री न समझ ले, प्रत्युत युग सघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता तथा सास्कृतिक चेतना के सस्पर्शों एव सौन्दर्य-बोध को भी अपनी कृतियो मे अभि-व्यक्ति देकर नवयुग के ज्योतिवाहक बन सके।

मै जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा असतोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूँ, क्योकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है, किन्तु युग-सचरण को वर्ग-सचरण मे सीमित कर देना उचित नही समझता। इस धरती के जीवन को मै सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है। गभीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नही जान पड़ता कि यह जीवन अविद्या का ही क्षेत्र है जहाँ मन तथा आत्मा के सचरण गौण तथा अज्ञान के अधीन हैं। यह केवल तुलनात्मक तथा बाह्य दृष्टिकोण है, जो हमारे ह्रास-युग का सूचक तथा विश्व-असगठन का द्योतक है। सामाजिक दृष्टि से मै असगठन को माया तथा सगठन (जिसमे बहिरतर दोनो सम्मिलित है) को प्रकाश या सत्य कहता हूँ।

अतएव इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सास्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन के सत्य के संपूर्ण स्तरों को नही अपनाता, वह हमारे जीवन

का धरती पर चलनेवाला समतल चरण है, हमे अपने मन तथा आत्मा के शिखरो की ओर चढनेवाले एक ऊर्ध्व सचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौंदर्य, सामजस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके। अन्यथा पृथ्वी के गहरे पक मे डूबा हुआ मनुष्य का पाव ऊपर उठ कर आगे नही बढ सकेगा। अणु बम के आगमन के बाद हमारे अग्नि भुज सेनिक, शान्ति-कामी राजनीतिक, तथा अधिकार-क्षुब्ध लोक सगठनो का सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त्र तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिसक सस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा, एव जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल कर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग (ऊर्ध्व पथ) खोजना होगा। एटम बम ने उसके भीतर के आदिम हिस्र जीव को जैसे सदैव के लिए निहत कर दिया है, वह बलि की तरह अवचेतन की राह से फिर पाताल प्रवेश करने को उद्यत है।

अपने बहिर्मुख (इद्रियो के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ मे आशा-आकाक्षाओ, सुख-दुख, तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते है एव राजनीतिक आर्थिक प्रणालियो द्वारा उसमे सामूहिक सतुलन स्थापित करते हैं उसी जीवन तत्त्व म हम अतर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनन्द, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप मे अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सास्कृतिक आदोलन द्वारा ही कर सकते हैं,—विशेषत' जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा सस्थाओ से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा और हम प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौंदर्य-गौरव से मडित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतत्र जहाँ हमारे भोग के सचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सास्कृतिक विश्व-द्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

सस्कृति शब्द का प्रयोग मैं व्यापक ही अर्थ मे कर रहा हूँ। सस्कृति को मै मानवीय पदार्थ मानता हूँ, जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनो धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म,

धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढि, रीति तथा व्यवहारो का सौन्दर्य भी एक अतर-सामजस्य ग्रहण कर लेता है। वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व सचरण है, न राजनीति की तरह समतल, वह इन दोनो का मध्यवर्ती पथ है जिनमे दोनो के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वो के बहिरतर का वैभव मानवीय व्यक्तित्त्व को गरिमा धारण कर लेता है। अतएव सस्कृति को हमे अपने हृदय की शिराओ मे बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैने अपनी रचनाओ मे सगुण, सूक्ष्म सगठन या मन.सगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दो का प्रयोग किया है।

सस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अतर्मन के सगठन है। सस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एव बाह्य परिस्थितियो पर अवलबित अति-विधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है। क्योकि उसके मूल मन से कही गहरे, बाहरी परिस्थितिया के अतिरिक्त, भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियो मे भी है। इस सबध मे अपने 'कला तथा सस्कृति' नामक अभिभाषण का एक अश यहाँ उद्धृत करता हूँ —"हम कला का मूल्याकन सत्य, शिव, सुन्दर के मानो से करते हैं। सत्य, शिव, सुन्दर से तत्त्वतः हमारा वही अभिप्राय है, जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है, क्योकि हम सत्य, शिव, सुन्दर को क्षुधा, काम (जीवन-आकाक्षाओ) ही के भीतर खोजते हैं, जिनसे हम बाह्य परिस्थितियो के जगत् से सबद्ध है, और इस दृष्टि से क्षुधा-काम हमारी भीतरी स्थूल परिस्थितियाँ हुई। सत्य, शिव, सुन्दर के रूप मे हम अपनी इन्हीं बहिरतर की परिस्थितियो मे सतुलन स्थापित करते हैं। आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणो मे केवल धरातल का भेद है, और ये धरातल आपस मे अविच्छिन्न रूप से जुडे हुए हैं। सत्य, शिव, सुन्दर सस्कृति तथा कला का धरातल है, क्षुधा-काम प्राकृतिक आवश्यकताओ का। जिस सत्य को हम स्थूल धरातल पर क्षुधा काम कहते है, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य शिव सुन्दर। एक हमारी सत्ता की बाहरी भूख प्यास है, दूसरी भीतरी। यदि सस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओ के सत्य से बिलकुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होती, तो उनकी हमारे लिए उपयोगिता ही क्या होती? वे केवल

स्वप्न तथा अतिकल्पना-मात्र होती। साथ ही यदि हमारी क्षुधा-काम की वृत्तियाँ सस्कृत होकर सत्य, शिव, सुन्दर के धरातल पर न उठ जाती, वे मानवीय नहीं बन सकती। हमारी सामाजिक मान्यताए इसी मानवीकरण अथवा ऊर्ध्व विकास के सिद्धात पर अवलबित हैं और मानव सभ्यता का लक्ष्य अध-प्रवृत्तियो के पशु-जीवन मे मानवीय सतुलन स्थापित करना ही रहा है। अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ ले कि ये दोनो धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्वत. अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए भविष्य मे हम जिस मानवता अथवा लोक-सस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमे बाहर-भीतर दोनो ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनो ही शक्तियो से काम लेना चाहिए। ऐसा नही समझना चाहिए कि स्थूल के सगठन से सूक्ष्म अपने आप सगठित हो जाएगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है, अथवा सूक्ष्म मे सामजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल मे अपने आप सतुलन आ जाएगा, जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनो दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अति सामाजिकता के दुराग्रहमात्र हैं। . .

"आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन मे बहुत बडा सघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व—अथवा समाज—के ही रूप मे सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ के भीतर ही युग-समस्याओ (राजनीतिक अर्थ मे) तथा मानव जीवन की समस्याओ (सास्कृतिक अर्थ मे) का समाधान खोजता है, और कभी व्यक्ति से असतुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ मे इन दोनो किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। जो जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म स्थूल सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटो से टकराता है, उसे आप समग्र रूप से इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व-रूपी मंचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, और जीवन-सौन्दर्य के स्रष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा

मैने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप मे देखिए। एक राजनीति के क्षेत्र का सिपाही भले ही उसे द्वन्द्व-तर्क से सचालित, आर्थिक प्रणाली से प्रभावित उत्पादन-वितरण के सघर्ष के रूप मे देखे, आप उसे मानव जीवन के प्रवाह के रूप मे देखिए, उसमे मानव हृदय का स्पदन सुनिए और उससे मनुष्य की सास्कृतिक प्रसव-वेदना का अनुमान लगाइए। आप क्षणभगुर के अवगुठन को हटाकर मानव चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ मे जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गो-गिरोहो के बीच, भिन्न-भिन्न सप्रदायो, शक्ति-लोलुप सगठनो तथा नैतिक दृष्टिकोणो के बीच चलनेवाले सघर्ष के प्रचारक मात्र बन जाएँगे, और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियो के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएँगे।”

मै यह विद्या-विनम्र होकर नही लिख रहा हूँ कि मुझे अपनी किसी भी कृति से सतोष नही है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियो के बीच का असामजस्य है। मैने परिस्थितियो की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नही किया है, जैसा कि मेरी रचनाओं से प्रकट है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनाएँ है, जिनमे मेरी 'ज्योत्सना'-काल की चेतना सभवतः अधिक प्रस्फुटित रूप मे निखर आई है। 'ग्राम्या' सन्' ४० मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल, विशेषकर सन्' ४२ के आदोलन का समय, जब कि द्वितीय विश्वयुद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मन. स्थिति के लिए अत्यन्त ऊहापोह का युग था।

मेरी कई पिछली मान्यताएँ भीतर ही भीतर ध्वस्त हो चुकी थीं और नवीन प्रेरणाएँ उदय हो रही थी, 'ग्राम्या' की 'सास्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओ तथा सन्, ४२ के उत्तरार्ध मे प्रकाशित मेरी 'लोकायन' की योजना मे उन मानसिक हलचलो का थोडा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मन. क्लाति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियो के लिए, जिन्हे मै अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-सचरण या काल्पनिक आरोहण

समझना था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्ही दिनो मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (द लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खड को पढते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एव पूर्ण दर्शन के रूप मे रख दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट के सबध मे मद्रास जाना पडा और मुझे पाडिचेरी मे श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविन्द आश्रम के निकट सपर्क मे आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमे सन्देह नही कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन, से मै अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योग युक्त (अत सगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओ सबधी, मेरी अनेक शकाएँ दूर हुई है। 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं मे यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी न किसी रूप मे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि मै 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे निवेदन कर चुका हूँ, मैं अपने युग, विशेषत' देश की, प्रायः सभी महान् विभूतियो से किसी न किसी रूप मे प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा-पल्लव' काल मे मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, 'युगात' और बाद की रचनाओ मे महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का, महात्माजी के देह निधन के बाद की रचनाएँ, जो 'युगपथ' मे सगृहीत हैं, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा की परिचायक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ 'युगपथ' मे प्रकाशित हो रही हैं। किन्तु इन सब मे जो एक परिपूर्ण एव सतुलित अतर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्रीअरविन्द के जीवन दर्शन में मिली; और इस अतर्दृष्टि को मै इस विश्व-सक्राति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। मैने अपने समकालीन लेखको तथा विशिष्ट व्यक्तियो पर समय-समय पर स्तुति-गान लिखने मे सुख अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाएँ, भेट रूप मे, 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'युगपथ' मे पाठको को मिलेंगी।

श्री अरविन्द को मै इस युग की अत्यंत महान् तथा अतुलनीय विभूति

मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण सतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन मे अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मडित हो उठा है, मुझे दूसरा कही देखने को नही मिला। विश्व-कल्याण के लिए मै श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बडी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिको की अणु शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत विज्ञान का बडे से बडा दान भी जीवन्मृत मानव जाति के भविष्य के लिए आत्म पराजय तथा अशाति ही का वाहक बन जाता। मै नहा कह सकता ससार के मनीषी तथा लोकनायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनाएगे।

यह मेरे कवि हृदय की विनीत अपर्याप्त श्रद्धाजलि मात्र है। ये थोडे से शब्द मै इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे तरुण बुद्धिजीवो श्री अरविन्द के जीवन दर्शन से भारत को आत्मा का परिचय तथा मानव और विश्व के अतर विधान का अधिक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर, लाभान्वित हो सके। आज हम छोटी-छोटी बातो के लिए पश्चिम के विचारको का मुह जोहते हैं, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्मवाक्य बन जाते हैं और हम अपनी इतनी महान् विभूति को पहचान भी नहीं सके है, जिनके हिमालय-तुल्य मनः शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विध्य की चोटियो के बराबर भी नहीं ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेड़िया तो किसी प्रकार कट गई, किन्तु मानसिक दासता की शृखलाएँ अभी नही टूटी हैं।

सहस्रो वर्षो से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झकारो से रहस-मौन निनादित भारत के एकात मनोगगन मे मार्क्स तथा ऐगिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अधकार के भीतर से रेगनेवाले झीगुरो की रुन्धी हुई झनकारो से अधिक स्पदन नहीं पैदा करती। ऐगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरण स्वरूप, 'नैपोलियन ५ मई को मरा है', तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष', जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे

इतर सिद्धांतों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नही रखता। जिस मार्क्स तथा एँगिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धिजीवी नही थकता, उसे अन्य दर्शनो के साथ अपने देश के दर्शन का भी सागोपाग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊट तथा हिमालय के शिखर मे कितना अतर और क्या भेद है।

मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष मे नही, उसके वैज्ञानिक (लोकतत्र के रूप मे मूर्त्त) आदर्शवाद मे है, जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है, किन्तु उसे वर्ग-क्राति का रूप देना अनिवार्य नही है। वर्गयुद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य मे पूजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप मे विकृत एव विकीर्ण हो जाएगा।

हीगल के द्वन्द्व तर्क मे विम्बित पश्चिम के मनोजगत् का अतर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युगप्रवर्तकों का मानव-चिन्तन, एँगिल्स के अनुसार 'अपनी युग-सीमाओ से बाहर' अवश्य नही जा सका है। मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खडे हीगल को पैरो के बल खड़ा नही किया; यूरोप का मनोद्वन्द्व ही तब अपने आर्थिक-राजनीतिक चरणो पर खड़ा होकर 'युद्ध देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था, जिसका पूर्वाभास पाकर युग प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्गयुद्ध के सिद्धात की रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूजीवाद के अभ्युदय-काल मे, अपने 'सरवाइवल ऑव् दी फिटेस्ट' के सिद्धान्त को (जिसकी तुलना मे ईसा की सास्कृतिक चेतना की द्योतक 'ब्लेसेड आर द मीक फार दे शेल इनहेरिट द अर्थ' आदि सूक्तियाँ रखी जा सकती हैं) जीव-विकास क्रम पर प्रतिपादित एव प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने, यत्र-युग के आर्थिक चक्रो से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वन्द्व-तर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम मे, (युग सकट के समाधान रूप मे)। हीगल और मार्क्स दोनो ही अपने युग के बहुत बडे मनस्वी हुए है, किन्तु इनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाए भी बन गई।

मै मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-सतुलित) जनतत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-सयोग मानता हूँ, जैसा कि मै अपनी रचनाओ म भी सकेत कर चुका हूँ—

'अन्तर्मुख अद्वैत पडा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण
उसे प्रतिष्ठित करने जग मे दिया साम्य ने वस्तु विधान !' 'युगवाणी'
'पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तन्त्र मे वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित !' 'स्वर्णकिरण'

इत्यादि ।

ऐसा कहकर मै स्वामी विवेकानद के सार गर्भित कथन, "मै यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ । मेरी दृष्टि मे पृथ्वी पर ऐसी कोई भी समाजिकता या सभ्यता स्थापित नही की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके । क्योकि ऊर्ध्व-सचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है, और वर्गहीनता का अर्थ केवल अतरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है । अत. मानवता को वर्गहीन बनने के लिए समतल प्रसारगामी के साथ उर्ध्व विकासकामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकात आवश्यकता है ।

हमारे युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है अतःसश्लेषण तथा बाह.सनिधान की कमी । हमारा युग मानव अभी अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक सचय को परस्पर सयोजित नही कर पाया है । उसका मन बाह्य विश्लेषण से आक्रात तथा अतः सश्लेषण से रिक्त है । इसमे सदेह नही कि धीरे-धीरे मानव-चेतना विश्व-क्राति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व सास्कृतिक सगठन अथवा विश्व सास्कृतिक-द्वार की ओर अग्रसर हो सकेगी, जिसमे इस युग का समस्त भौतिक मानसिक वैभव सगृहीत एव समन्वित हो सकेगा । किन्तु किपलिग के कुछ आधुनिक भारतीय सस्करण (यद्यपि किपलिग के दृष्टिकोण के बारे मे यह केवल लोकमत-मात्र है) भौतिकता (पश्चिम का राजनीतिक आर्थिक जीवन सबधी सघर्ष तथा वर्गहीन लोकतत्र) तथा आध्यात्मिकता (पूर्व के अतर्जीवन

सघर्ष-सबधी अनुभूतियाँ तथा अतर्मुख मनोयत्र) का समन्वय असभव मानते हैं, जबकि आध्यात्मिकता प्रारभ से ही 'पद्भ्या पृथिवी' घोषित करती आई है।

पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं की जीवन-अनुभूतियों को, जिन्हे ऐतिहासिक विकास के लिए मानव अदृष्ट (भावी) का भौगोलिक वितरण कहना अनुचित न होगा निकट भविष्य मे विश्व-सतुलन तथा बहिरतर सगठित भू-चेतना एवं भू-मन के रूप मे सयोजित होना ही होगा। पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, जो अतर्मन तथा अतर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अत-र्विधान मे (काल मे) अतर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्-प्रसरित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सास्कृतिक चेतना का स्वर्गोनन्त सेतु पूर्व तथा पश्चिम के सयुक्त छोरो पर झूलकर धरती के जीवन एव विश्व-मन को एक तथा अखड बना देगा। तब दोनो के, आज की दृष्टि से, विरोधी अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार मे डूब जाएगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरो की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौन्दर्य-गरिमा वहन कर सकेगी।

आज के सक्राति-काल मे मैं साहित्य-स्रष्टा एव कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-सघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सास्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अंत-क्रीड़ा हो रही है, उन्हे अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-सगीत मे झकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धातिकता के मृगजल-मरु मे भटकती हुई अत.शून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अतर्जगत् तथा अतर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके, एव इस युग के वादो की सकीर्ण भित्तियो मे बदी युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में, जिसकी प्रत्येक श्वास मे घृणा-द्वेष के विष का सचार हो रहा है, उसका स्वाभाविक प्रेम का स्पदन तथा देवत्व का सगीत जाग्रत कर सके,—विशेष कर जब इस युग मे मानव-हृदय इतना क्षुधित, चेतना-शून्य तथा, विकसित न हो सकने के कारण, निर्मम हो गया है कि दो विश्व-युद्धो के हाहाकार के बाद भी आज मनुष्य

तीसरे विश्वव्यापी अणु-सहार के लिए उद्यत प्रतीत होता है। कवि की विश्व-प्रीति एव मानव-प्रेम की वशी को आत्मकुंठा के प्रतीकार के लिए, व्यक्तिगत घृणा-द्वेष तथा जनोद्धार के आवरण मे अनीति के प्रचार के लिए, लोकहितैषिता के छद्मवेश मे शक्ति-लालसा तथा पद-अधिकार के लिए एव वाद-पीडित बौद्धिक दुराग्रह से उत्तेजित विश्वव्यापी लोक-सहार के लिए तोपो के अनुर्वर कृत्रिम गर्जन मे बदलने का दु:प्रयास करना मुझे सृजन-प्राण साहित्यजीवी का कर्तव्य नही जान पडता। सौन्दर्यस्रष्टा एव जीवनद्रष्टा चाहे बाल्मीकि हो या गोर्की, वह सेना-नायक या सैन्य-वाहक नही होता, वह सदेश या युग-सकेत वाहक ही होता है। वह भावात्मक चेतना का ही सृजन गभीर शख-घोष करता है।

मैं केवल इस युग के मान्यताओ सबधी सघर्ष एव युगक्राति के भीतरी पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहा हूँ जो मानव-चेतना के नवीन सास्कृतिक आरोहण का सूचक है। इस दृष्टि से इस युग के समस्त वाद-विवाद नवीन लोक-चेतना के स्फुलिग एव अश सत्य-मात्र हैं। मानव के इस विकासोन्मुख व्यक्तित्व को, निकट भविष्य मे, जीवन, जो सबसे बडा स्रष्टा तथा कलाकार है, अपने रहस्य-स्पर्शो से सँवार कर नवीन मानवता की सजीव शोभा मे मूर्तिमान् कर देगा। बुद्ध, मसीहा तथा मोहम्मद जिस स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, उस स्वप्न को हमारा विद्युत् तथा अणु का युग वास्तविकता प्रदान कर सकेगा और धीरे-धीरे हम आज के युग-सघर्ष के व्यापक स्वरूप को समझ सकेंगे एव आज के वर्गयुद्ध के रूप मे हमे जिस युग-सचरण का पूर्वाभास मिलता है, उसके भीतर निहित मनुष्य की अतर्चेतना का प्रयोजन हमारे युग-मन मे अधिक स्पष्ट हो जाएगा और इसमे भी सदेह नहीं कि यह मात्र बाहर का रोटी का युद्ध शीघ्र ही मन के रणक्षेत्र मे नवीन मान्यताओं के देवासुर-संघर्ष का रूप धारण कर, एव मानव-चेतना तथा अस्तित्व के अतरतम स्तरों को आदोलित कर, मानव-हृदय को स्वर्ग-शोणित से स्नानपूत तथा नवीन चेतना के सौन्दर्य और मानवता की गरिमा से मडित कर देगा। अस्तु—

'स्वर्णकिरण' मे मैने अतर्जीवन अतश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्त्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिलकुल

ही भूल गए हैं। वैसे सामान्यत. उसमे बहिरतर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गई है। जैसा कि—'भौतिक वैभव औ' आत्मिक ऐश्वर्य नही सयोजित ! 'बहिरतर के सत्यो का जगजीवन मे कर परिणय', 'बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अतर्दृष्टि ज्ञान से योजित"—आदि अनेक पक्तियो मे अनेक रूप से मिलेगा। युग्म-चेतना-सबधी मान्यताओ पर भी मैने 'स्वर्णकिरण' के अतर्गत 'स्वर्णोदय' के अतिम भाग मे तथा 'स्वर्णधूलि' की 'मानसी' मे विशेष रूप से प्रकाश डाला है, जिससे पाठको पर मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाएगा।

'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' मे मैने यत्र-तत्र छदो की सम-विषम गति की एक स्वरता को बदलने की दिशा मे भी कुछ प्रयोग किए हैं। जिससे ह्रस्व दीर्घ मात्रिक छदो की गति मे अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है। यथा—

'सुवर्ण किरणो का झरता निर्झर' मे 'सुवर्ण' के स्थान पर 'स्वर्णिम' कर देने से गति मे सगति तो आ जाती, पर सुवर्ण किरणो का प्रकाश मद पड जाता। इसी प्रकार 'जल से भी कठोर धरती मे' 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था, 'मेरे ही असख्य लोचन' के बदले . अगणित लोचन, 'मानव भविष्य हो शासित' के बदले भावी हो शासित, 'दैन्यो मे विदीर्ण मानव' के स्थान पर. विक्षत अथवा खडित मानव' हो सकता था,—और ऐसे ही अनेक उदाहरण ठहराए जा सकते है, किन्तु मैने सम विषम गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्त्व देना उचित समझा है। इस युग मे जब हम ह्रस्व दीर्घ मात्रिक के पास से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छद लिखने मे अधिक सौकर्य अनुभव करते है, मेरी दृष्टि मे, ह्रस्व दीर्घ मात्रिक मे यति को मानते हुए सम-विषम की गति मे इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नही होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक में स्वरपात का सौन्दर्य आ जाता है। इन रचनाओ मे मैने ह्रस्व अत्यानुप्रासो का अधिक प्रयोग किया है,—यथा कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि। ह्रस्व मात्रिक तुक अधिक सूक्ष्म होने से एक प्रकार से छद प्रवाह मे घुल-मिल कर खो जाते हैं। गीतो को छोड़ कर निबध एव इतर काव्य मे मैने इस प्रकार के सूक्ष्म या नम्र अंत्यप्रास से ही अधिक काम लिया है,—गीतो मे ह्रस्व-दीर्घ दोनो प्रकार के तुकों से।

'उत्तरा' मे मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युगजीवन-सबधी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना गीत सगृहीत हैं। 'उत्तरा' की भाषा 'स्वर्णकिरण' की भाषा से अधिक सरल है, उसके छदो मे मैने उपर्युक्त विचारो तथा प्रेरणाओ को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अग है। 'धनिक श्रमिक मृत'—आदि प्रयोग मैने व्यक्तियो या सगठनो के लिए नही, युग-प्रतीको अथवा परिस्थितियो के विभाजनो के लिए ही किए है, जो सास्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टियो से वाछनीय है।

अत मे मै अपने स्नेही पाठको से निवेदन करूँगा कि वे मेरी रचनाओ को इसी सास्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप मे ग्रहण करे और 'युग विषाद का भार वहन कर तुम्हे पुकारूँ प्रतिक्षण' जैसी भावनाओ को, 'आओ प्रभु के द्वार!' की तरह, जन-विरोधी न समझ ले। ऐसी पुकारो मे व्यक्ति के निजत्व का समावेश अवश्य रहता है, पर ऐसी किसी भी सामाजिकता की कल्पना मै नही कर सकता, जिसमे व्यक्ति के हृदय का स्पदन रुक जाय और न शायद दूसरे ही करते होगे।

मै बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्राति का भी पक्षपाती हूँ, जैसा कि मै ऊपर सकेत कर चुका हूँ। आज हम बाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों म धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरो का सगीत तथा भावी का सौदर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग मे सास्कृतिक सतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मै जाग्रत चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह सभव न हो सका तो क्राति का परिस्थितियो द्वारा संगठित सत्य तो भूकप, बाढ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?

'कौन रोक सकता उद्वेग भयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कटमर!'

अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठको को धरा-शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-सबधी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ

मिलेगी। अपनी श्लक्ष्ण कल्पना वाणी-द्वारा जन-युग के इस हाहारव से मैंने मनीषियो तथा साहित्य-प्रेमियो का ध्यान मानव-चेतना के भीतर सृजन शक्तियो की इन सूक्ष्म क्रीडाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है जिससे हम आज की जाति पाँति वर्गो मे विकीर्ण तथा आर्थिक राजनीतिक आदोलनो से कपित धरती को उन्नत मनुष्यत्व मे बाँध कर विश्व-मदिर या भू स्वर्ग के प्रागण मे समवेत कर सक। मेरे गीतो का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नही है। वे मनुष्य के अतर्जगत् तथा भविष्य की अस्पष्ट झाँकियाँ भर हैं और नवीन मानव चेतना के सिन्धु मे मेरी वाणी के स्वप्न अवगाहन अथवा स्वप्न निमज्जन मात्र।

इस भूमिका के रूप मे मैंने अपने विचारा को उनके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार के मोह के कारण नही दिया है,—केवल पाठको की सुविधा के लिए अपनी इधर की रचनाओ की पृष्ठभूमि का एक रेखा चित्र भर खीच दिया है। अपनी त्रुटियो के लिए मै उनसे विनम्रतापूर्वक क्षमा याचना करता हूँ।

(जनवरी १९४९) *[उत्तरा से—*

मेरा रचना काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहिले आप मेरे साथ हिमाल की प्यारी तलहटी मे चलिये। आपने अल्मोडे का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी मे पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृगार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकात मे बैठ कर अपना पल-पल परिवर्तित वेश सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मै छोटा-सा चचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कठ अभी तक फूटा नही था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिए मेरे बिना जाने हो जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय मे वह अपनी मीठी, स्वप्नो से भरी हुई, चुप्पी अकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरो में बज उठी। पहाडी पेडो का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे-हल्के रगों के फूलो और कोंपलो मे मर्मर ध्वनि कर मेरे भीतर अपनी सुदरता की रगीन सुगधित तहे जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदुबोली-सी' अपनी उस हृदय की गुंजार को मैने अपने 'वीणा' नामक सग्रह मे 'यह तो तुतली बोली मे है एक बालिका का उपहार!' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चचल सौदर्य ने मेरे जीवन के चारोओर अपने नीरव सौदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरो की तरह उठने लगी थी, जिन पर खडा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखो के सामने फहराया करता था। कितने ही इद्र-धनुष मेरे कल्पना के पट पर रगीन रेखाएँ खीच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थी, फेनो के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुबी सौदर्य मेरे हृदय पर एक महान सदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनद, सौंदर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह

प्रतिष्ठित हो चुका था। मै छुटपन से जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर मे मुझे 'मेघदूत,' 'शकुतला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका मे प्रकाशित रचनाओ का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन मे भरे हुए अवाक् सौंदर्य को जैसे वाणी की झकारो मे झनझना उठने के लिए अज्ञात रूपसे प्रेरणा देता था। मेरे बडे भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली मे, और पहाडी मे भी, प्राय कविता लिखत थे। मेरे मन मे तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारभिक प्रयास भी शुरू हो गये थे जिन्हे मुझे किसी को दिखाने का साहस नही होता था। तब मै दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मै अल्मोडा हाईस्कूल मे पढने चला गया। अल्मोड़ा मे उन दिनो जैसे हिंदी की बाढ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मै भी उस बाढ़ मे बह गया। पद्रह-सोलह साल की उम्र मे मैने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारंभ कर दिया था। मै तब आठवीं कक्षा मे था। हिंदी साहित्य मे तब जो कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-बध', 'रग में भग' आदि रचनाओ से प्रभावित होकर मै हिंदी के प्रचलित छदो की साधना मे तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों मे, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक मे तथा मासिक-पत्रिका 'मर्यादा' मे प्रकाशित हुए थे। इन तीन वर्षों की रचनाओं को मै प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १६१८ से २० तक की अधिकाश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-सग्रह मे छपी हैं। वीणा-काल मे मैने प्रकृति को छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इद्रधनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-सध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

"छोड द्रुमों की मृदु छाया,
तोड प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओ को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले मे बाँहें डाले प्राकृतिक सौंदर्य के छायापथ मे विहार कर रही है।

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ
सजा हृदय की थाली मे,
क्रीडा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौंदर्य-ज्ञान उस ओसो के हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नो से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन मे जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नही प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन एव परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को सबोधन करके लिखे गये है।

"माँ, मेरे जीवन हार
तेरा उज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"

—आदि रचनाओं मे प्रकृति प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैने अपने मन के इन्ही उच्छ्वासों एव उद्गारो को भरकर स्वर साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अँग्रेजी रचनाओ मे मुझे अपने हृदय में छिपे सौंदर्य और रुचि की

अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १९१६ की बात है, मै तब बनारस मे था। मैने रवीन्द्र-साहित्य बॅगला मे भी पढना शुरू कर दिया था। 'रघुवश' के कुछ सर्ग भी देख चुका था। 'रघुवश' के उस विशाल स्फटिक प्रासाद के झरोखो और लोचन-कुवलयित गवाक्षो से मुझे रघु के वशजो के वर्णन के रूप मे कालिदास की उदात्त कल्पना की सुन्दर झॉकी मिलने लगी थी। मै तब भावना के सूत्र मे शब्दो की गुरियो को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्ही दिनो मैने 'ग्रथि' नामक वियोगात खड-काव्य लिखा था। 'ग्रथि' के कथानक को दु:खान्त बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के प्रारभ मे ही मेरे जीवन के बारे मे भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' मे प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारभ कर दिया था। १९१९ की जुलाई मे मै कालेज पढने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही मे रहा। यहाँ मेरा काव्य-सबधी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अँग्रेजी कवियो से मैने बहुत कुछ सीखा। मेरे मन मे शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारभ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यजना 'पल्लव' मे अधिक प्राजल एव परिपक्व रूप मे हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मासल, सुरुचि, सुरगपूर्ण बनकर प्राय. मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक सवेदनशील बन गयी है। 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', निर्झरी', विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं मे वह प्रकृति के रँगजगत मे अभिनय करती-सी दिखायी देती है। अब उसे तुहिन-वन मे छिपी स्वर्ण ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नही छिपाना चाहती कि उसके हृदय मे कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अचल अब आँसुओं से गीला जान पड़ता है, उसकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का मुखर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधुपान

करने को व्याकुल है। सरोवर की चचल लहरी उससे आँखमिचौनी खेल कर उसके व्याकुल हृदय को दिव्यप्रेरणा से आश्वासन देने लगी है। वह उससे कहती है—

> "मुग्धा की-सी मृदु मुसकान,
> खिलते ही लज्जा से म्लान,
> स्वर्गिक सुख की-सी आभास
> अतिशयता में अचिर महान
> दिव्य भूति-सी आ तुम पास
> कर जाती हो क्षणिक विलास
> आकुल उर को दे आश्वास !"

सन् १६२१ के असहयोग आदोलन मे मैंने कालेज छोड दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास मे ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रथिबधन जोडना निश्चय किया है। 'वीणा' मे मैने ठीक ही कहा था—

> "प्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
> अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दों मे जीवन लाओ !"

बड़ी बड़ी अट्टालिकाओ और प्रासादो से लेकर छोटी-छोटी झाड-फूस की कुटियों से जनाकीर्ण इस जगत मे मुझे रहने के लिए मन का एकात छाया-वन मिला, जिसमे वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगो से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन-मनन और चितन ही मे अधिक व्यतीत हुआ। १६२१ मे मैने 'उच्छ्वास' नामक प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू'। मेरे तरुण-हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड़ गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भविष्य जीवन भी जैसे स्वप्नो और भावनाओ के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया।

"उड गया अचानक लो भूधर
फडका अपार वारिद् के पर
रव शेष रह गये हैं निर्झर,
लो टूट पडा भू पर अबर !
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यो जलद् यान में विचिर विचर, था इंद्र खेलता इन्द्रजाल !"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरो से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत्, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकाक्षाओ से भरे हुए हृदय को, अनत विचारो, मतातरो, रूढियों, रीतियो की भूल-भूलैया-सा लगता था, जैसे मेरे आँखो के सामने से ओझल हो गया। यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पों के ऊपर मेरे हृदय मे जैसे एक नवीन अतरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बडी अनेक रचनाओ मे जीवन के और युग के कई स्तरो को छूती हुई, भावनाओं की सीढियाँ चढती हुई, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे मेरे उस काल के हृदय-मथन और बौद्धिक सघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमे 'पल्लव' युग का मेरा मानसिक विकास एव जीवन की सग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियो से भरे बादल की तरह प्रतिबिंबित है। इस अनित्य जगत् मे नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन मे जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से प्रारभ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसधान का केवल प्रतीक मात्र है। हृदयमथन का दूसरा मुख आप आगे चलकर 'गुजन' और 'ज्योत्स्ना' काल की रचनाओ में पायेंगे।

मै प्रारभ मे आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौंदर्य की जुगनुओं से जगमगाती हुई घाटी मे घुमाकर धीरे धीरे कर्म-कोलाहल से भरे ससार की ओर ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अतिम कुछ पक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आ गया है—

"अहे महांबुधि, लहरों के शत लोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुग तरंगो से शत युग शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर!"

मेरा जन्म सन् १६०० मे हुआ है, और १६४७ मे मै जैसे इस सक्रमण-शील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दो के उत्थान-पतनो को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतत्रता के अदम्य सग्राम से आदोलित रहा · उसके मनो-जगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी जैसे

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण,
हिमताप पीत मधुवात भीत तुम वीतराग जग जड़ पुराचीन!"

का सदेश बखेरती रही है। दुनिया इन वषो मे दो महायुद्ध देख चुकी है।

'बहा नर शोणित मूसल धार
रुंडमुडों की कर बौछार,
छेड खर शस्त्रो की झंकार
महाभारत गाता ससार!—"

'परिवर्तन' की इन पक्तियो मे जैसे इन्ही वर्षो के इतिहास का दिग्घोष भरा हुआ है। मनुष्य जाति की चेतना इन वर्षों मे कितने ही परिवर्तनो और हाहाकारो से होकर विकसित हो गयी है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बिलों मे छेड़े हुए साँपो की तरह फन उठाकर फूत्कार कर रही हैं।

यह सब इस युग मे क्यो हुआ? मानव-जाति प्रलय वेग से किस ओर जा रही है? मानव-सभ्यता का क्या होगा? इस भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गों, देशो, राष्ट्रों के स्वार्थो मे खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दिशा को होना चाहिए—इन प्रश्नो और शकाओ का समाधान मैने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया है। 'ज्योत्स्ना' मे वेदव्रत कहता है · 'जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकाकी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामो से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकाकी प्रकृतिवाद, विकास

वाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल मे डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मासल प्रतिमा मे पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर कर एव अध्यात्मवाद के अस्थिपजर मे भूत या जड-विज्ञान के रूप-रगो को भर कर हमने आने वाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।'

'ज्योत्स्ना' मे मैने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है 'गुजन' मे उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुजन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से सबद्ध है। 'गुजन' की 'अप्सरी' मे 'ज्योत्स्ना' की ही भावना-धारा को व्यक्तित्व दे दिया है। कला की दृष्टि से 'गुजन' की शैली 'पल्लव' की तरह मासल, एव ऐन्द्रियक रूप-रगो से भरी हुई नही है, उसकी व्यजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भावप्रवण है। उसमे 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नही है पर भावो की सच्चाई और चितन की गहराई है।

'गुजन'-काल के इन अनेक वर्षों के ऊहापोह, सघर्ष और संधि पराभव के बाद आप मुझे 'युगात' के कवि के रूप मे देखते हैं। 'युगात' के मरु मे मेरे मानसिक निष्कर्षो के धॅधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं। वही चिन्तन के भार से डगमगाते हुए पैर जैसे 'पॉच कहानियो' की पगडडियों मे भी भटक गये है।

'युगात' मे मै निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यभावी है। मैने जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उनका आभास 'ज्योत्स्ना' मे पहले ही दे चुका हूँ। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामो के आधारो का समन्वय मैने 'युगवाणी' के युगदर्शन मे किया है। युग-दर्शन मे मैने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धान्तो का जहाँ समर्थन किया है वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय एव सश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है। भौतिकवाद के प्रति—जो कि मानव-जीवन को बहिर्गतियों का वैज्ञानिक निरूपण है—अपने वयोवृद्ध विचारकों मे जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पायी जाती है उसे मैने दूर करने का प्रयत्न किया है। अध्यात्म दर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवको मे भ्रात धारणाऍ फैली हैं उस पर भी प्रकाश डाला है। मैने 'युगवाणी' में मध्ययुग की सकीर्ण नैतिकता का घोर खडन किया है।

'ग्राम्य' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० मे पहुँच गए हैं। इस बीच मे हिन्दी साहित्य की सृजनशीलता हिन्दुस्तानी के स्वादहीन आदोलन से तथा उसके बाद १९४२ के आदोलन से काफी प्रभावित रही। दोनो आदोलनो से हिंदी की सृजनशील चेतना को अपने-अपने ढग का धक्का पहुँचा, और दोनो ने ही उसे पर्याप्त मात्रा मे चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूँघट पडा रहा। इसके उपरात सन् १९२९ की तरह मै अपने मानसिक सघर्ष के कारण प्राय' दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओ के दो सग्रह 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्ण-धूलि' के नामो से प्रकाशित हुए है। 'स्वर्ण-किरण' मे स्वर्ण का प्रयोग मैने नवीन चेतना के प्रतीक के रूप मे किया है। उसमे मुख्यत चेतना-प्रधान कविताएँ हैं। स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि मे मिल कर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप मे अकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' मे मैने, पिछले युगो मे जिस प्रकार सास्कृतिक शक्तियो का विभाजन हुआ है उनमे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमे पाठको को विश्व-जीवन की एव धरती की चेतना सबधी समस्याओ का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशो एव युगो की सस्कृतियो को विकसित मानववाद मे बॉध कर मैने भू-जोवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' मे 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद सुनाकर इस वार्ता को समाप्त करता हूँ।

> **भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास मे उदित**
> **सहिष्णुता सद्भाव शांति से हों गत सस्कृति धर्म समन्वित।**
> **वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खडित**
> **बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित।**
> **एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का सघर्षण,**
> **विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन!**

मैं और मेरी कला

जब मैने पहिले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारो ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियो तथा प्राकृतिक सौदर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी। और किसी भी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नही जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारो ओर की सामाजिक परिस्थितियाँ तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थी, उनके चिर परिचित पदार्थ मे मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। फलत. मेरी प्रारभिक रचनाएँ प्रकृति की ही लीला भूमि मे लिखी गई हैं। पर्वत प्रात की प्रकृति के नित्य नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैने स्वत. ही जैसे किसी अतर्विवशता के कारण पक्षियो तथा मधुपो के स्वरो मे स्वर मिला कर जिन्हे, तब मैने विहग बालिका तथा मधुबाला कहके सबोधन किया है, पहिले पहल गुन-गुनाना सीखा है।

मेरी प्रारभिक रचनाएँ 'वीणा' नामक सग्रह के रूप मे प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं मे प्रकृति ही अनेक रूप धर कर, चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढाती रही है। समस्त काव्यपट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरे आदि जैसे मेरे बाल कल्पना के छायावन मे मिल कर वाद्य तरंग बजाते रहे है।

'प्रथम रश्मि का आना रगिणि, तूने कैसे पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहगिनि, पाया तूने यह गाना ?'

अथवा 'आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव में भरकर, अपने कवि के गीत मनोहर,
फैला आओ वन-वन घर-घर, नाचे तृण तरु पात।'

आदि गीत आपको 'वीणा' मे मिलेंगे जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

'उस फैली हरियाली में—कौन अकेली खेल रही
माँ वह अपनी वयबाली में ?

अथवा **'छोड द्रुमों की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया**
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ? ..आदि

अनेक उस समय की रचनाएँ तब मेरे प्रकृति विहारी होने की साक्षी हैं।

जिस प्रकार प्रकृति ने मेरे किशोर हृदय को अपने सौन्दर्य से मोहित किया है उसी प्रकार पर्वत प्रदेश की निर्वाक् अलघ्य गरिमा तथा हिमराशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमे अपनी रहस्यमय मौन सगीत की स्वरलिपि भी अकित की है। पर्वत श्रेणियो का वह नीरव सदेश मेरी प्रारभिक रचनाओं मे विराट् भावनाओ अथवा उदात्त स्वरो मे अवश्य नही अभिव्यक्त हो सका है, किंतु मेरे रूप-चित्रो के भीतर से एक प्रकार का अरूप सौन्दर्य यत्र-तत्र अवश्य छलकता रहा है, और मेरी किशोर दृष्टि को चमत्कृत करने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य म एक गभीर अवर्णनीय पवित्रता की भावना का भी अपने आप ही समावेश हो गया है।

'अब न अगोचर रहो सुजान,
निशानाथ के प्रियवर सहचर अंधकार स्वप्नों के यान,
तुम किसके पद की छाया हो किसका करते हो अभिमान ?

अथवा **'तुहिन बिंदु बनकर सुंदर, कुमुद किरण से उतर-उतर,**
मा, तेरे प्रिय पद पद्मो मे, अर्पण जीवन को कर दूँ।
इस ऊषा की लाली मे !'

आदि पंक्तियो मे पर्वत प्रदेश के रहस्यमय अधकार की गम्भीरता और वहाँ के प्रभात की पावनता तथा निर्मलता एक अतर्वातावरण की तरह अथवा सूक्ष्माकाश की तरह व्याप्त है। 'वीणा' की रचनाओ मे मेरे अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस्य सकेत तथा प्रेरणा बोध से पूरा कर दिया है। उनके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का टहटहापन, सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फूट कर स्वत· काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गई है।

'वीणा' के बाद की रचनाएँ मेरे 'पल्लव' नामक सग्रह मे प्रकाशित हुई हैं। 'पल्लव' काल मे मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूप रेखाग्रा मे प्राकृतिक सौंदर्य तथा उसकी रगीनी तो वर्तमान है, किंतु केवल प्रभावो के रूप मे,—उससे वह सान्निध्य का सदेश लुप्त हो जाता है।

'कहो हे सुदर विहग कुमारि, कहाँ से आया यह प्रिय गान ?'
अथवा
सिखा दो ना हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।

आदि 'पल्लव' काल की रचनाग्रा मे विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता भी ज्यो की त्यो बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृतिचित्र तथा भावना के प्रतीक भर रह गए है। उनके शब्दो मे कला का सौदर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नही। प्रकृति के उपकरण रागवृत्ति के स्वर बन गए हैं, वे अकलुष ऐन्द्रयिक मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नही रह गए हैं। 'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौंदर्य का सहवास पल्लव की रचनाओ मे भावना के सौंदर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा मे परिणत हो गई है। 'वीणा' की रचनाओं मे जो स्वाभाविकता मिलती है वह 'पल्लव' मे कला सस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन मे बदल गई है। बाहर का रहस्यमय पर्वत प्रदेश आँखो के सामने से ओझल हो जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आँखो को विस्मित करने लगा है। अब भी 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' वाला पर्वत का दृश्य सामने आता है पर उसके साथ 'सरल शैशव की सुखद स्मृति सी' एक बालिका भी मनोरम मित्र बन कर पास ही खड़ी दिखाई देती है। बाल कल्पना की तरह अनेक रूप धरने वाले उड़ते बादलों मे हृदय का उच्छ्वास और तुहिन बिन्दु सी चचल जल की बूँदो मे आँसुओं की धारा मिल गई है। प्रकृति का प्रागण छायाप्रकाश की बीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखाई पडती है। उपलो पर बहुरगी लास तथा भगिमय भृकुटि-विलास दिखाने वाली निश्छल निर्झरी अब सजल आँसुओं की अचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य भूमिका से 'वीणा' काल का पवित्र प्राकृतिक सौंदर्य 'उड़ गया अचानक

लो भूधर, फड़का अपार वारिद के पर' के सदृश ही विलीन हो जाता है, और उसके स्थान पर 'रवशेष रह गए हैं निर्झर' शेष रह जाते हैं। उस पवित्रता का स्पर्श पाने के लिए हृदय जैसे छटपटा कर प्रार्थना करने लगता है—

'विहग बालिका का सा मृदु स्वर, अर्ध खिले वे कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मनकी, वह मेरी आनन्द उमग।
'अहो दयामय, फिर लौटा दो मेरी पद प्रिय चचलता,
तरल तरंगो सी वह लीला, निर्विकार भावना लता?'

'पल्लव' की अधिकाश रचनाएँ प्रयाग मे लिखी गई है, १६२१ के असहयोग आदोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियो ने भी जैसे हिलना डुलना सीखा। युग-युग मे जडीभूत उनकी वास्तविकता मे सक्रियता तथा जोवन के चिह्न प्रकट होने लगे। उनके स्पदन कपन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखाएँ मन को आकर्षित करने लगी। मेरे मन के भीतर वे सस्कार धीरे-धीरे सचित ता होने लगे पर 'पल्लव' की रचनाओ मे वे मुखरित नही हो सके। न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त ही प्रतीत हुए। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावाद की अभिव्यजना की सीमाएँ थो। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रात उस भावना की पुकार थी जो बाहर की ओर राह न पाकर 'भीतर' की ओर स्वप्न-सोपानो पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही काल्पनिक उड़ान द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' मे विगत वास्तविकता के प्रति असतोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुजन' काल की रचनाओ मे नित्य सत्य पर जैसे मेरा दृढ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।

'सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर-सुन्दर जग जीवन'। आदि

रचनाओ मे मेरा मन परिवर्तनशील अनित्य वास्तविकता से ऊपर उठ कर नित्य सत्य की विजय के गीत गाने को लालायित हो उठा है और उसके लिए आवश्यक साधना को भी अपनाने की तैयारी करने लगा है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' भी अनुभव होने लगा है। और वह इस आकाक्षा से व्याकुल भी रहने लगा है। 'ज्योत्स्ना' मे मैने इस नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव' कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखर कर, 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा, तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगात' मे मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा मे भी सक्रिय हो गया है और विकासकामी हृदय क्रातिवादी भी हो गया है। युगात की क्राति की भावना मे आवेश है और है एक नवीन मनुष्यत्व के प्रति सकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन मे पहिले परिवर्तन और फिर क्राति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप मे प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दो मे बाहरी क्राति की आवश्यकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।

'द्रुत झरो जगत के जीर्णपत्र, हे स्रस्तध्वस्त हे शुष्क शीर्ण'

द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है वहाँ 'ककाल जाल जग मे फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' मे 'पल्लव' काल की स्वप्न चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। '**गा कोकिल बरसा पावककण ! नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन, ध्वश-भ्र श जग के जड़ बधन**' के साथ ही '**हो पल्लवित नवल मानवपन, रच मानव के हित नूतन मन**' भी मैने कहा है। यह क्राति की भावना जो अब साहित्य मे प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है, मेरी 'ताज', 'कलरव', आदि युगात कालीन रचनाओ मे विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद की भावना युगात की 'मानव' 'मधुस्मृति' आदि रचनाओ मे। 'बापू के प्रति' शीर्षक मेरी उस समय की रचना गाधीवाद की ओर झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' मे भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के प्रारभिक समन्वय का रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी'

तथा 'ग्राम्या' मे मेरी क्राति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नही होती उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

'भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,

जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान, अथवा

'मुझे स्वप्न दो' 'मन के स्वप्न' 'आज बनो तुम फिर नव मानव' 'सस्कृति का प्रश्न' 'सास्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी उस सास्कृतिक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'ग्राम्या' मेरी सन् १६४० की रचना है जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य मे घुटनो के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद का एक रूप जिस प्रकार वर्गयुद्ध की भावना के साथ दृढ कदम रख कर आगे बढना चाहता है उस दृष्टि से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट ही कहना पडेगा। सन् १६४० के बाद का समय द्वितीय विश्वयुद्ध का वह काल रहा है जिसमे भौतिक विज्ञान तथा मास पेशियों की सगठित शक्ति ने मानवता के हृदय पर नग्न पैशाचिक नृत्य किया है। सन् ४२ के असहयोग आन्दोलन मे भारत को जिस पाशविक अत्याचार तथा नृशसता का सामना करना पडा उससे हिसात्मक क्राति के प्रति मेरा समस्त उत्साह अथवा मोह विलीन हो गया। मेरे हृदय मे यह बात गभीर रूप से अकित हो गई कि नवीन सामाजिक सगठन राजनीतिक आर्थिक आधार पर नहीं सास्कृतिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्व प्रथम सन् १६४२ मे मेरी लोकायन की योजना मे और आगे चल कर 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि' की रचनाओ मे अभिव्यक्त हुई है। नवीन सास्कृतिक सगठन की रूप रेखा तथा नवीन मान्यताओ का आधार क्या हो, इस सबध मे मेरे मन मे ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय मै श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के सपर्क मे आगया और मेरी 'ज्योत्स्ना' काल की चेतना एक नवीन युग प्रभात की व्यापक चेतना मे प्रस्फुटित होने लगी जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण चेतना कहा है। और मेरा विश्वास धीरे-धीरे और भी दृढ हो गया कि नवीन सास्कृतिक आरोहण इसी चेतना के आलोक मे सभव हो सकता है जो मनुष्य की वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रम कर उसे एक अधिक ऊर्ध्व, गभीर तथा व्यापक

धरातल पर उठा देगी। इस प्रकार आनेवाली क्राति केवल रोटी की क्राति, समान अधिकारो की क्राति ही न होकर जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण की क्राति, मानसिक मान्यताओ की क्राति तथा सामाजिक अथच नैतिक आदर्शो की भी क्राति होगी। दूसरे शब्दो मे भावी क्राति राजनीतिक आर्थिक क्राति तक ही सीमित न रह कर आध्यात्मिक क्राति भी होगी, क्योकि वस्तु जगत् के प्रति हमारे ज्ञान का स्तर हमारी आध्यात्मिक धारणा के सूक्ष्म स्तर से अविच्छिन्न रूप से जुडा हुआ है और वर्तमान युग की विशृखलता को नवीन मानवीय सामजस्य देने के लिए मनुष्य की अन्न प्राण मन सबधी चेतनाओ का बहिरन्तर रूपातर होना आवश्यक तथा अवश्यभावी है जिसे मैने 'स्वर्णकिरण' मे इस प्रकार कहा है —

'सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशिक्षण!
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
सस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण!'

भौतिक तथा आध्यात्मिक सचरणो के मध्य समन्वय की मेरी भावना धीरे-धीरे विकसित होकर अधिक वास्तविक होती गई है और आज प्रतिगामी शक्तियो की अराजकता के युग मे प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मेरे मन की निष्ठा अधिकाधिक बढती जा रही है।

आज की कविता और मैं

आज की कविता मे अनेक स्तर और अनेक छायाएँ हैं। वह एक देशीय भी है, विश्वजनीन भी . वैयक्तिक भी है सामाजिक भी . और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एव नवीन मनुष्यत्व की सदेश वाहक भी है, एक ऐसा मनुष्यत्व जिसमे आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी भीतरी विरोध, नवीन जामजस्य ग्रहण कर रहे हैं।

जब मै विश्व साहित्य एव काव्य पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे लगता है कि उसमे मनुष्य जाति के जीवन का सघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओ को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप मे प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नही है। आज का युग अनेक दृष्टियो से कई युगो का युग है। आज मनुष्य जीवन मे बहिरतर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। आज वह अपने पिछले सचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओ को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे सक्राति के युग मे ध्वस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। शिव और ब्रह्मा, विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने मे सहायक होते हैं। पौराणिक शब्दो मे आज का युग कलियुग और सत्युग का सधिस्थल है। ऐसे युग मे साहित्यिक या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने मे कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आने वाला चरण ही दे सकता है जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्त कर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेंगी। अतएव प्रस्तुत

वार्ता मे आज की कविताओ के सबध मे ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा और अपने सबध मे निर्णय देने का अधिकार आने वाले आलोचको पर छोड कर सतोप करूँगा।

सन् १६०० मे मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ जो हिन्दी अथवा खडी बोली की पहिली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खडी बोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य जीवन के प्रारभ होने से २-३ वर्ष पहिले ही श्री गुप्त जी की 'भारत भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमे स्वामी रामकृष्ण परमहस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानद द्वारा प्रचारित सर्वधर्म समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नही था जिसने विश्व कवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमे उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूँज रहे थे, जो इस प्रकार थे ·

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होगे अभी,
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी।'

साथ ही उसके भविष्यत् खड मे हमारी कुभकर्णी नीद मे सोई हुई भूमि के लिये उद्बोधन और जागरण की आशा भी थी. ....

'हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ।
वर शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ॥
अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वयं जय बोल के॥

किन्तु द्विवेदी युग के कवियो के काव्य सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्री-गणेश प्रसाद जी से होता है... न काव्य के रूप निर्माण के सम्बन्ध मे विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध मे। छायावादी कवियो का लक्ष्य हिन्दू जाति के जागरण तक सीमित नही रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार विचारो को अतिक्रम कर नए प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप विन्यास मे कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेजी के कवियों का

प्रभाव पडा, भावना मे युग सघर्ष की आशा निराशा का, तथा विचार दर्शन मे विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतर कर भूवाद, नव मानववाद तथा जनवाद मे परिणत हो गए। द्विवेदी युग के कवियो मे आगे चलकर श्री गुप्त जी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियो ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अशत शेली आदि अग्रेजी कवियो से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व भावना तथा लोकमगल भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अग बनाकर ही अपने काव्य मे दे सके। जन सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार सरणि का अग नही बन सकी थी। यत्र युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यत्रयुग की जनवादी सौन्दर्य भावना का उदय तब नही हो सका था, न पूँजीवाद ही उनके आत्म निर्माण-काल मे ऐसा वीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य मे यत्रो के प्रति विरोध की भावना मिलती है जो मध्यकालीन भारतीय सस्कृति की प्रतिक्रिया मात्र है। श्रीकृष्ण-चतन्य अथवा वैश्ववाद उनकी रचनाओ मे आधुनिक रूप धारण कर सर्वात्मवाद बन कर निखरा है। सास्कृतिक धरातल पर उन्होने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्वशास्त्र की दिशा मे किया है।

इन्ही आध्यात्मिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओ से हिन्दी मे छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई उनके काव्य का पदार्थ भी उमी अनुपात मे बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढते गये। सत्य के खोज की उडती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियो से प्रभावित एव घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगो।

प्रसाद जी की कामायनी छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है। उनका आँसू छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। कामायनी मे पूर्वी पश्चिमी विचार दर्शन का उनके युग का समन्वय है। उसमे इडा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीजन या रैशनलिज्म की प्रतीक है। श्रद्धा भारतीय अभीप्सा जनित भावना की। मनु मानव मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम निर्वेद आदि प्रवृत्तियो का विकास जैवी विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकास वाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा श्रद्धा का सघर्ष . श्रद्धा की विजय भक्ति कर्म ज्ञान का समन्वय . अन्त मे समरस आनन्द की व्यापक स्थिति, सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक मे विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होने युग के अनुरूप अद्भुत काव्य सृष्टि की है। अतर्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियो का प्रवृत्तियों के रूप म मानसीकरण कर उन्हे भेद बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन सघर्ष मे डाल कर, श्रद्धा की सहायता से पुन निखार कर तथा उसी के द्वारा कर्म भक्ति ज्ञान के रूप मे जीवन, भावना तथा बुद्धि मे सामजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

'नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन'

की भूमिका पर उठाकर प्रसाद जी ने कामायनी के श्रद्धा प्रासाद को

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था'

की आत्मानुभूति के स्वर्ग मे प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन कामायनी के दर्शन के बिना असफल है। कामायनी के काव्य पदार्थ मे प्राचीन ऋषियों का हृदय स्पदन तथा उनके विचार दर्शन की प्रतिध्वनियाँ

मिलती है। और अतिम सर्गों मे विचार दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्व द्रष्टाओं की तरह प्रसाद जी ने भी व्यक्ति चेतना अथवा वैयक्तिक सचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एव लोक कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एव सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सन्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमे अनगढ, विद्रोह भरे प्रगतिवाद के कवियो मे मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिर्वतन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठोक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना गलत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा, उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियो तथा मध्य वृत्तिवालो के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा।, नवीन लोकमानवता की गभीर सशक्त चेतना के जागरण गान के स्थान पर उसमे नगे भूखे श्रमिक कृपको के अस्थि-पजरो के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुठित बुद्धिवादियो की मानसिक प्रतिक्रियाओ का हुकार भरा क्रन्दन सुनाई पडने लगा। विचार दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल कुछ तात्कालिक परिस्थितियो के कोरे राजनीतिक नारो को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेपण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकाश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य चेतना के सरोवर तट पर राजनीतिक प्रचार का झडा गाडे, ऊपर ही ऊपर हाथ पॉव मार कर झागो मे तैरने का सुख लूटते रहे है और छिछले स्थलो से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़ कर नव दीक्षितो को दिग्भ्रात करते रहे है।

छायावाद का प्रारभिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एव आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद मे अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियो मे भागवत् या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल

आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियो मे जनता तथा जन जीवन के प्रति एक निर्जीव सवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनो ही के मन मे सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप रेखा या धारणा निश्चित नही बन पाई। एक भीतरी कुहासे मे लिपटे रहे दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगति वाद के सफल कवि छायावादी शब्दो की रेशमी रगीनी का एव उपमाओ की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छदो की दृष्टि से सभवत: उन्होंने अपनी अतर्लय हीन भावनाओ तथा उच्छृखल उद्‌गारो की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छद के रूप मे पक्ति बद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असबद्ध, छितरा बिखरा तथा ऊबड खाबड रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद मे सुरुचि सस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमट कर अत्यन्त सकीर्ण अधानुयायिता मे बदल गयी। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियो ने किसी प्रकार अपने गिरते पडते पेर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियो ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमे दिनकर प्रमुख है।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडडी पकड़ी, जो हमारी सड़को के नए नामो की तरह पीछे स्वतत्ररूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा मार्क्सवाद एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क वितर्कों मे फॅसकर एक किमाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर सगति हीन भावनाओं की लहरियो मे मुखरित, उपचेतन अवचेतन की रुद्ध कुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित कुठित आकाक्षाओं को वाणी देती हुई लोक चेतना के स्रोत में नदी

के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमे टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्दो का वैचित्र्य उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमे क्षणभगुर रगरलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियो तथा सदेहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य भावना केचुओ घोघो मेढको के उपमानो के रूप मे सरीसृपो के जगत से अनुप्राणित होने लगी।

छायावादी छदो मे आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अत' स्वर सगति है, जो अपने दुर्बल क्षणो मे कोरा प्रेरणा शून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छदो मे सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पदन कपन है, जो अधिकतर खोखली हुकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छदो मे एक करुणा मिश्रित नीद भरी स्वप्न मर्मर है, जो प्राय आत्मदया मे द्रवित होकर प्रणय के आँसुओ तथा उच्छ्वासो की निरर्थक सिसकियों मे डूब जाता है। छायावादी प्रीति काव्य सौन्दर्य भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय गीत राग और वासना मूलक।

अपने स्वस्थ रूप मे छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध मे व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहता को। काव्य की ये तीनो धाराएँ आज की युग चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन सचरणो को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं। और तीनो ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से सपृक्त हैं।

इन तीन प्रमुख धाराओ के अतिरिक्त आज की कविता मे राष्ट्र भावना से भरी देश प्रेम की झकारें भी मिलती हैं जो मुख्यत. गाधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियो मे मुख्यत' सियारामशरण जी, माखनलाल जी तथा सोहनलाल द्विवेदी जी हैं। प्रथम दो के स्वरो मे तप और सयम है, सस्कृत रुचि, उद्‌बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना मे सास्कृतिक चेतना की उपेक्षा नही है। इनमे अतीत की स्वस्थ परम्पराओ के जागरण के साथ आधुनिक विश्व बधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश

है। साध्य साधन का सामजस्य, हृदय परिवर्तन का आग्रह, लोक हित तथा अहिंसात्मक क्रान्ति का निर्देश है, साथ ही आज की समतल विचार धारा की अराजकता मे ऊर्ध्व उदात्त सतुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिको को विशेष सृजन प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता मे आज एक प्रकार का गतिरोध सा दृष्टिगोचर होता है।

देश प्रेम के अतिरिक्त इस युग मे मानवीय प्रेम की भावनाओ पर आश्रित स्त्री पुरुष सबधी रागात्मक कविताए भी लिखी गयी हैं, जिसके प्रतिनिधि बच्चन हैं। बच्चन ने अपने हालावाद मे, प्रेम के प्रतीक को, सूफियो की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास मे लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम भावना निशा निमत्रण, आकुल अतर तथा एकान्त सगीत मे प्रच्छन्न विरह के रूप मे उमडी है, सतरगिणी तथा मिलन यामिनी मे उन्मुक्त मिलन उल्लास के रूप मे। छायावादी अशरीरी प्रेम भावना बच्चन मे मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है पर उसमे युगीन परिष्कार का अभाव है। उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पदन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य भावना से मडित, सस्कृत, मानवीय निखार नही। उसमे नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य मे मूर्त, सुघर सतुलित रागोच्छ्वास देखने को नही मिलता। बच्चन का प्रणय निवेदन 'वह पग ध्वनि मेरी पहचानो' से लेकर 'इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम काव्य की परम्परा से अनुरजित एव प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इद्रिय सवेदनो को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री पुरुष की सज्ञा चेतना को शुभ्र ऊँचाइयो मे उठाने अथवा गहन अतर्लीन करने मे सहायक नही होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य भाषा की परम्परा से छन कर आई है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना पखो की स्वर्णिम उड़ान लेकर नही आई। उसमे सूक्ष्म विश्लेषण सश्लेषण की रगच्छायाएँ नहीं मिलतीं, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरों में बँधी और उक्तियो से भरी होती है। उसकी इधर की प्रणय पत्रिका की रचनाएँ भी,- जो विनय पत्रिका का

आधुनिक सस्करण समझी जानी चाहिये . काव्य की दृष्टि से उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि मे आती हैं। उदाहरण स्वरूप 'तन के सौ सुख सौ सुविधा मे मेरा मन वनवास दिया सा' अथवा 'आज मलार कही तुम छेडे मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओ के रूप मे इसलिए लिया है कि मूलत. ये तीनो धारायें एक ही युग चेतना अथवा युग सत्य से अनुप्राणित हुई है। उनके रूप विन्यास, भावना सौष्ठव मे कोई विशेष अतर नही और उनका विचार दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनो धाराए एक दूसरे की पूरक है। आज के युद्ध जर्जर युग मे हम एक नवीन सतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओ मे नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) मे नया सामजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकाक्षायें आज हमारे साहित्य मे विभिन्न अनुरजनाओ तथा अति-रजनाओ के साथ अभिव्यक्ति पा रही है।

अपने युग की महत् चेतना से, एक छोटे से साहित्य जीवी के रूप मे, मै भी अपने ढग से अनुप्राणित एव प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढाव उतार मे मेरी भी छोटी सी तुच्छ देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान कवियो के ऐश्वर्य को मैने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियो तथा सहयोगियो की प्रतिभा का भी मै प्रशसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य साधना मे मैने सत कवियो तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता की अतश्चेतना को नवीन लोक चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता मे परिणत करने की चेष्टा की है। मैने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधो को नवीन मानव चेतना के समन्वय मे ढालने का प्रयत्न किया है। मै अपने युग की चेतना मे छाए हुए अध विश्वासो तथा निरर्थक रूढि रीतियो के प्रेतो से लड़ा हूँ। मैने विभिन्न धर्मो सस्कृतिया तथा जातियो वर्गो मे बॅटे हुए

लोगो को अपनी काव्य चेतना के प्रागण मे आमन्त्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरजनाओ का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओ के रूप मे ग्रहण कर उन्हे लोक कल्याण के लिये महत्तर सास्कृतिक समन्वय मे, एक दूसरे के पूरक की तरह, सयोजित करना चाहा है। युगवाणी से लेकर स्वर्ण किरण तक मैने जीवन की बहिरतर मान्यताओ को सामजस्य के ताने बानो मे गूँथकर नवीन मानवता के सास्कृतिक पट को शब्द ग्रथित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतो मे मैने मनुष्य के लिए नवीन सास्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक सवेदनाओ, नवीन आदर्शों के स्पदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष मे मैने अपनी युग चेतना को नवीन सौन्दर्य का लिबास पहनाने का प्रयत्न किया है। जिस सब में मुझे अवश्य ही सफलता नही मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्म श्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य मे यदि मै कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओ तथा स्वप्न सभावनाओं को सापेक्षतः परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका तो मै अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूँगा।

कला का प्रयोजन

स्वांतःसुखाय या बहुजनहिताय

हमारे युग का सघर्ष आज केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रो ही मे प्रतिफलित नही हो रहा है, वह साहित्य, कला तथा सस्कृति के क्षेत्र मे भी प्रवेश कर चुका है। यह एक प्रकार से स्वास्थ्यप्रद ही लक्षण है कि हम अपने युग की समस्याओं का केवल बाहरी समाधान ही नहीं खोज रहे हैं, प्रत्युत उनकी भीतरी ग्रथियो को भी खोलने अथवा सुलझाने का यत्न कर रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में आज बहुजनहिताय का सिद्धान्त प्राय. सभी देशो मे निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुका है और अपना देश भी नवीन सविधान के स्वीकृत होने के साथ ही बहुजन-सगठित गणतत्र के विशाल तोरण मे प्रवेश कर चुका है। राजनीतिक क्षेत्र की यह कोटि करपद नवीन चेतना आज हमारे साहित्य, कला तथा सस्कृति मे भी युग के अनुरूप परिणति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। फलत. आज साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे मन मे उठने लगे हैं कि 'कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए', अथवा कला प्रचार के लिए या आत्माभिव्यक्ति के लिए अथवा कला स्वात'सुखाय या बहुजनहिताय। इस प्रकार के सभी प्रश्नो के मूल मे एक ही भावना या प्रेरणा काम कर रही है और वह है व्यक्ति और समाज के बीच बढते हुए विरोध को मिटाना अथवा वैयक्तिक तथा सामाजिक सचरणो के बीच सामजस्य स्थापित करना। मानव सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की बुद्धि को कभी वैयक्तिक समस्याओं से उलझना पडता है, कभी सामाजिक समस्याओं से। मध्य युग मे हमारा ध्यान वैयक्तिक मुक्ति की ओर था, तो इस युग मे सामाजिक, सामूहिक अथवा लोकमुक्ति की ओर। पिछले युगो मे सामती परिस्थितियो के कारण मानव अहता का विधान तथा उसके पारस्परिक सामाजिक सबधो का निर्माण एक

विशेष रूप से सगठित हुआ था। वर्तमान युग मे भूत-विज्ञान की शक्तियो के प्रादुर्भाव के कारण मानव सभ्यता का मान-चित्र धीरे-धीरे बदलकर दूसरा ही रूप धारण करने लगा है, और मानव अहता का विधान भी पिछले युग के विशेष एव साधारण अधिकारो के सामजस्य अथवा बधन को तोडकर अपने विचारो तथा आचार व्यवहारो मे आज नवीन रूप से समान अधिकारो का सामजस्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप इस सक्राति एव परिवर्तन काल मे, हमारे जीवन के रहन-सहन की बाहरी प्रणालियो के साथ ही, हमारे मनोजीवनके अतर्नियमो, विचारो तथा आस्थाओ मे भी, विरोधी शक्तियो के सघर्ष के रूप मे, प्रकारातर उपस्थित हो रहा है। कार्ल मार्क्स को जिस प्रकार पूँजीवादी पद्धति मे एक मूलगत अतर्विरोध दिखलाई दिया था, उसी प्रकार इस युग के समीक्षको को भी आज मानव-चेतना के सभी स्तरो मे अतर्विरोध के चिह्न दिखाई दे रहे हैं और चाहे वस्तुवादी दृष्टिकोण से देखा जाय अथवा आदर्शवादी विचारो के कोण से, आज मनुष्य के मन तथा जीवन के स्तरो मे परस्पर विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुई है। और हमारी साहित्यिक पुकारें 'कला कला के लिए या जीवन के लिए', अथवा 'कला स्वातः-सुखाय या बहुजनहिताय' आदि भी हमारे युग के इसी विरोधाभास को हमारे सामने उपस्थित कर उसका समाधान माँग रही हैं। हमारे युग का बहुमुखी जीवन पग-पग पर विरोध खड़े कर जैसे युगमानव की प्रतिभा को चेतावनी दे रहा है और उसे प्रकट रूप से ललकार रहा है कि उठो, जीवन का नाम विरोध है, वह अधकार और प्रकाश का क्षेत्र है, इन विरोधो को पैरो के नीचे कुचल-कर आगे बढो विरोध के विष को पीकर निर्विकार चित्त से युग-सामजस्य का अनुसंधान करो और अपनी चेतना को गभीर तथा विस्तृत बनाकर इन अनमेल विरोधी तत्वो मे सतुलन स्थापित करो। 'विश्वजयी वह आत्मजयी जो'

अस्तु—तुलसीदास जी लिखते हैं, 'स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'। हमारा युग रघुनाथ-गाथा तो एकदम भूल ही गया है, वह स्वातः-सुखाय से भी बुरी तरह उलझ रहा है। प्रश्न यह है कि यदि तुलसीदास जी रघुनाथ-गाथा को स्वात.सुखाय लिख गये हैं, तो क्या उसने बहुजनहिताय के

अपने कर्तव्य को पूरा नही किया ? क्या उनकी कला स्वातःसुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नही रही ? यदि रही है, तो हमे स्वातःसुखाय और बहुजनहिताय मे इतना बडा विरोध क्यो दिखाई देता है ? असल बात यह है कि हम गभीरता-पूर्वक न इस युग के स्वातः के भीतर पैठ सके हैं, न बहुजन के भीतर, नहीं तो हमे इन दोनो मे विरोध के बदले एक व्यापक गभीर साम्य तथा एकता ही दिखाई देती, और हमे यह समझने मे देर न लगती कि स्वातः कहने से हम बहुजन के ही अतस् या मन की ओर सकेत करते है और बहुजन कहने से भी हम व्यक्ति के ही बाह्य अथवा सामाजिक अतस् की ओर निर्देश कर रहे हैं। एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व मे स्वातः और बहुजन मे आपस मे वही सबध रहता है जो गुण और राशि मे, और एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस प्रकार हम देखेंगे कि इस युग की विरोधी विचार-धाराओ द्वारा हम एक प्रकार से मानव की भीतरी-बाहरी परिस्थितियो मे सतुलन अथवा सामजस्य प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वातः और बहुजन मे, व्यक्ति और समाज मे किस प्रकार सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। इसका उत्तर देने से पहले हमे स्वातः और बहुजन का अभिप्राय समुचित रूप से समझ लेना चाहिए। स्वातः का अर्थ है मन। 'स्वातः मानस मनः' जैसा कि अमरकोष कहता है। अतएव स्वातः से हमारा अभिप्राय है उन विचारो, भावो, धारणाओं तथा आस्थाओं से जिनसे हमारा अन्तर्जगत अथवा हमारी भीतरी परिस्थितियो का ससार अथवा हमारा अतर्व्यक्तित्व बना हुआ है। बहुजन से हमारा अभिप्राय है उन बाहरी परिस्थितियों से जो आज अधिक से अधिक लोगो के जीवन का प्रतिनिधित्व कर रही हैं और जिनके पुनर्निर्माण पर असख्य लोगो के भाग्य का निर्माण निर्भर है। दूसरी दृष्टि से आज की वास्तविकता ही हमारे बहुजन का स्वरूप है। उसका कल का रूप या भविष्य का रूप अभी केवल युग के स्वातः मे अथवा अतस् मे अतर्हित है। जब हम अतर्जगत के स्वरूप पर विवेचन करते हैं, तब हमे ज्ञात होता है कि हमारे बाह्य जीवन के क्रिया कलाप का, हमारे ऐन्द्रयिक जीवन की चेष्टाओ-सबधी अनुभूतियो आदि का निचोड़ अथवा सार ही हमारे

विचारो, धारणाओ, आदशो तथा आस्थाओ के रूप मे परिणत हो जाता है, अर्थात् बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही हमारा अतर्जीवन है। हमारे बाह्य और अतर्जगत दो विरोधी तत्व नही है, बल्कि मानव जीवन के एक ही सत्य के सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप हैं और व्यक्ति तथा विश्व के अतर्विधान को सामने रखते हुए ये दो समातर सिद्धान्तो की तरह कहे जा सकते हैं। इस प्रकार हमारा विचारो का दर्शन हमारे जीवन-दर्शन से विभिन्न सत्य नही है, बल्कि हमारे जीवन की प्रणालियो, उसके क्रिया-कलापा तथा अनुभूतियो का ही क्रमबद्ध तथा सगठित स्वरूप है। इस दृष्टि से हमारे स्वात सुखाय और बहुजनहिताय के सिद्धातो मे कोई मौलिक या अतर्गत विरोध नही है, केवल बाह्य वैपम्य मात्र है।

अब हमे इस बाह्य विषमता के भी कारण समझ लेने चाहिए। जैसा कि मै ऊपर कह चुका हूँ हमारा युग सक्राति का युग है। भूत विज्ञान के आविष्कारो के कारण मानव जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ इस युग मे अत्यधिक सक्रिय हो गयी हैं। हमारा राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गहीन तत्र के रूप मे, उनमे नवीन रूप से सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और हमारा जीवन-सबधी मान्यताओ तथा सामाजिक सबधो का दृष्टिकोण भी युगपत् परिवर्तित हो रहा है। दूसरे शब्दो मे आज मनुष्य का बहिरतर प्रवहमान अवस्था मे है। किन्तु बाहरी परिस्थितियो के अनुपात मे जन-साधारण की भीतरी परिस्थितियाँ अभी प्रबुद्ध अथवा विकसित नही हो सकी हैं। फलतः हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक मान्यताओ के बीच इस युग मे एक अस्थायी विरोधाभास पैदा हो गया है और हम युग-जीवन के सत्य को व्यक्ति तथा समाज, स्वात· तथा बहुजन के रूप मे विभक्त कर उनको एक दूसरे के विरोधी मानने लगे हैं। किन्तु धीरे धीरे युग-जीवन के प्रवाह मे एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकेगी कि मनुष्य की बाहरा और भीतरी परिस्थितियों मे, अथवा मनुष्य के बाह्य और अतर जगत मे एक दूसरे के सबंध मे सतुलन पैदा हो जायगा, हमारी स्वातः-सुखाय और बहुजनहिताय की धारणाएँ एक दूसरे के सन्निकट आकर अविच्छिन्न रूप से परस्पर सयुक्त हो जायँगी और आज के व्यक्ति और समाज का सघर्ष हमारे नवीन युग की पूर्णकाम राम-गाथा मे अति मजुल भाषा निबध

रचना के रूप मे गुफित होकर नवीन युग का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व बन जायगा। इस गरिमामय विराट व्यक्तित्व के शिखर पर खडे तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अतर और बाह्य, स्वात. और बहुजन, कला और जीवन, एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

हमारा मन जिस प्रकार विचारो के सहारे आगे बढता है, उसी प्रकार मानव-चेतना प्रतीको के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण भी इसी प्रकार के प्रतीक है, जिनके व्यक्तित्व मे एक युग की सस्कृति मूर्तिमान हो उठी है, जिनके व्यक्तित्व मे पिछला युग बहिरतर सामजस्य ग्रहण कर सका है, जिनके व्यक्तित्व मे युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो सका है। इस दृष्टि से हमारा युग एक विराट् प्रतीक्षा का युग है। एक दिन इस युग का व्यक्तित्व हमारे भीतर उतर आयेगा और हमारे बाहर-भीतर के सभी विरोध उस व्यक्तित्व की महानता मे निमज्जित होकर कृतकार्य हो जाएगे। और कोई प्रतिभाशाली तुलसी, महात्मा गाँधी जैसे लोकपुरुष के जोवन में उस व्यक्तित्व को अकित कर फिर से स्वात' सुख के लिए नवीन युग की बहुजन-हिताय गाथा गाकर उसे जन मन मे वितरित कर सकेगा।

इसी प्रकार अपने युग की समस्याओं पर गभीरतापूर्वक विचार करने तथा मानव-जीवन के अतल अतस्थल मे अधिकाधिक पैठने से हमे ज्ञात हो जायगा कि हमारे वर्तमान, व्यक्ति तथा समाज-सबधी अथवा अतर बाह्य-सबधी, ऊपरी विरोधों के नीचे हमारी चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरो मे एक नवीन सतुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टिकोणो को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामजस्य मे बाध देगी। जीवन-रहस्य के द्वार खुल जाने पर हमे अनुभव होगा कि जीवन स्वय एक विराट् कला तथा कलाकार है और एक महान कलाकार के कुशल करो मे कला कला के लिए होने पर भी जीवनोपयोगी ही बनी रहेगी और कला जीवन के लिए होते हुए भी कलात्मक अथवा कला के लिए रहेगी। इसी प्रकार कुछ और गभीरतापूर्वक विचार करने से हमारे भीतर यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि कला द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। और

लोक-कला की परिणति भी आत्म-प्रकटीकरण अथवा आत्माभिव्यक्ति मे हो सकती है। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बॉहो की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारों की इस विशृंखलता को सामंजस्य के व्यापक प्रीति पाश मे बॉध सकेंगे। एवमस्तु।

आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत

प्रस्तुत वार्ता का विषय है "आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत", जिनसे हमारा अभिप्राय उन मौलिक प्रेरणाओ मान्यताओ एव उन धारणाओ तथा प्रवृत्तियो से है जो आधुनिक हिन्दी काव्य को जन्म देने मे सहायक हुई है और जिन्होने उसके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा की ओर मोडा है। प्रत्येक युग अपनी विशेष विचार धारा, विशेष भावनाओ के आधार तथा अपना विशेष दृष्टिकोण लेकर आता है, जो उस युग के साहित्य मे प्रतिफलित होता है। साहित्यिक अथवा कलाकार का सूक्ष्म भाव प्रवण हृदय अपने युग की उन विकास तथा प्रगति की शक्तियो को पहचान कर अपनी कला के माध्यम द्वारा उन्हे जन समाज के लिए सुलभ बना देता है।

काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नही है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छदो की झकृत वशभूषा, शब्दों तथा अलकारो का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यजना, कल्पना की सतरङ्गी उडान तथा सौदर्य-बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान मात्र कहे जा सकते हैं। इन सब से अधिक उपयोगी काव्य की वह अतश्चेतना है जो युग विशेष के हृदय मथन तथा जीवन सघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक दिशा का इगित देती है जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।

हिन्दी काव्य का आधुनिक युग छायावाद से प्रारम्भ होता है जो द्विवेदी युग तथा प्रयोगवादी युग का मध्यवर्ती काल है और जिसकी एक विशेष धारा ही प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी कविता कही जाती है। छायावाद से पहिले भी हिन्दी काव्य साहित्य मे नवीन प्रेरणाएँ काम करने लग गई थी और एक प्रकार से द्विवेदी युग से भी पहले श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे हिन्दी कविता मे नए विषयो का समावेश होने लगा था। श्री भारतेन्दु के भारत-

दुर्दशा नाटक मे देशभक्ति की मार्मिक व्यजना मिलती है। उनकी स्वतत्र कवि
ताओ मे भी यत्र-तत्र देश के अतीत गौरव की महिमा, वर्तमान अधोगति का
वेदनापूर्ण चित्रण और भविष्य का उद्‌बोधन गान पाया जाता है।
देश की वर्तमान दशा से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु कहते हैं।

हाय, वहै भारत भुव भारी, सब ही विधि सो भई दुखारी।
हाय पचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
तुम मे जल नहिं जमुना गगा, बढहु वेगि किन प्रबल तरङ्गा।
बोरहु किन झट मथुरा कासी, धोवहु यह कलक की रासी।

भारतेन्दु के इस प्रकार के करुण उद्‌गारो मे देशभक्ति के साथ ही एक शक्तिमयी नई अभिव्यजना भी मिलती है। द्विवेदी युग मे भारतीय जागरण के साथ ही देश भक्ति तथा राजनीति से प्रभावित अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ लिखी गई। श्री गुप्त जी की 'भारत भारती' ने अपने युग को सबसे अधिक प्रभावित किया। द्विवेदी युग का मुख्य प्रयत्न खडी बोली को गद्य पद्य के रूप मे मार्जित करने की ओर रहा। उनके युग मे हिन्दी भाषा के सौन्दर्य से तो वचित रही किंतु उसका आधुनिक रूप निश्चित रूप से निखर आया और उसमे एक प्रकार का सयम तथा सुथरापन आ गया।

द्विवेदी युग का काव्य अधिकतर गद्यवत्, इतिवृत्तात्मक तथा अभिधा-प्रधान रहा। किन्तु उसका भावना क्षेत्र भारतेन्दु युग से कही अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया उसमें अनेकानेक नवीन विषयो का समावेश होने लगा और उसमे भारतीय पुनर्जागरण की चेतना जन्म लेने लगी। द्विवेदी युग के कवियो मे प्रमुख तीन नाम हमारे सामने आते हैं : श्री श्रीधर पाठक, श्री अयोध्यासिह उपाध्याय "हरिऔध" और राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण गुप्त। वैसे अन्य भी कई कवि उस युग के साहित्य के इतिहास मे चिर स्मरणीय रहेंगे।

श्रीधर पाठक जी का प्रकृति वर्णन उस युग के काव्य मे अपना विशेष महत्व रखता है, उनसे पहिले प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के रूप मे प्रयुक्त होता रहा। पाठक जी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रमी तथा उपासक थे। उनके शब्दों का चयन भी अत्यत मधुर तथा सुथरा होता था। उनकी वाणी में जो एक

प्रसाद था वह स्वय हिन्दीकाव्य की नवीन चेतना का द्योतक था। उनके प्रकृति वर्णन का एक उदाहरण लीजिए .

बिजन वन प्रांत था, प्रकृति मुख शात था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा मे लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।

"प्रसवकाल की लालिमा से लसे बाल शशि" की कल्पना मे आधुनिकता की छाप है। उनकी "स्वर्गीय वीणा" की पक्तियो मे ध्वनि सकेत की मधुरिमा देखिए:

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमजु वीणा बजा रही है,
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुजार आ रही है।
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है,
दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बद मस्त गत पै सारे,
समस्त ब्रह्माड भर को मानो दो उगलियोपर नचा रही है।

वीणा के सुरीले स्वरो पर गगन के तारो तथा समस्त ब्रह्माड का तन्मय होकर नाच उठना जिस आनन्दातिरेक की ओर इगित करता है वह अधिमानस की एकता का परिचायक है। पाठक जी ने श्रात पथिक तथा ऊजड गाम के नाम से गोल्डस्मिथ के Traveller तथा Deserted Village के भी काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। कश्मीर सुषमा, उनके प्रकृति प्रेम का रमणीय लीला-कक्ष है, उसमे उनका पदविन्यास अत्यत कोमल तथा ललित होकर निखरा है। पाठक जी की रचनाओ मे समाज सुधार की भी भावना मिलती है, इस नवीन धारा का प्रारम्भ भारतेन्दु युग मे हो चुका था। श्रीधर पाठक वास्तव मे एक प्रतिभावान तथा सुरुचि सपन्न कवि थे।

द्विवेदी युग के कवियो मे हरिऔध जी का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्हें बोलचाल की भाषा पर भी उतना ही अधिकार था जितना संस्कृत-गर्भित भाषा पर। उनके "प्रियप्रवास" का शब्द संगीत छायावाद के शब्द सगीत के अधिक निकट है :

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा।

तरुशिखा पर अस्तमित सूर्य की प्रभा का चित्रण छायावादी अभिव्यजना है।

रूपाद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना
तन्वगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीडा कला पुत्तली
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं।

इन चरणो की स्वर झकृति अधिक मधुर तथा सरल बनकर पीछे छायावाद के सगीत मे प्रतिध्वनित हुई। भाव सौन्दर्य की दृष्टि से भी प्रिय प्रवास मे श्री राधा का व्यक्तित्व रीति कालीन पकिलता से मुक्त होकर अधिक स्वच्छ तथा आधुनिक बन गया है।

द्विवेदी युग के कवियो मे सबसे अधिक प्राणवान् तथा युगचेतना के प्रतीक स्वरूप महाकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हुए। जैसा कि हम ऊपर कह आए है भारतेन्दु युग की स्वदेश प्रम की भावना गुप्त जी की "भारत भारती" मे विकसित राष्ट्रभावना का स्वरूप ग्रहण कर सकी। आचार्य रामचद्र शुक्ल जी के शब्दो मे 'गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेपता रही कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओ और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी भापी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसंदेह कहे जा सकते हैं। इधर के राजनीतिक आन्दोलनों ने जो स्वरूप धारण किया उसका पूरा आभास गुप्त जी की रचनाओ मे मिलता है। सत्याग्रह, अहिसा मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रम, किसानो और श्रमजीवियो के प्रति प्रेम और सम्मान, सब की झलक हम उनमे पाते हैं।" गुप्त जी की आधुनिकतम रचनाओ मे युग की चेतनात्मक क्राति तथा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठे हैं। उनकी "झकार" छायावादी युग की वस्तु है और पृथवी पुत्र प्रगति वादी युग की। गुप्त जी मे पुरातन के प्रति सम्मान और नूतन के प्रति उत्साह तथा आग्रह की भावना मिलती है। उनका यह सामंजस्य छायावादी युग के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि का काम करता है। उन्हे प्रबध काव्य तथा आधुनिक प्रगीत मुक्तकों मे

समान रूप से सफलता मिली है। उनके मुक्तको मे छायावादी अभिव्यजना तथा लाक्षणिक प्रयोगो का वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। उनके प्रबध काव्य "साकेत" को काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का विरह वर्णन एक नवीनता प्रदान कर देता है। अनसूया उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओ की ओर गुप्त जी अपने काव्य सस्कार मे बंगला के अध्ययन से प्रभावित हुए है। सर्व प्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

आगे चलकर हम देखेंगे कि हिन्दी की नवीन काव्यधारा मे बगला कवियो, विशेष कर रवीन्द्रनाथ, का विशेष प्रभाव पडा है। वैसे श्री मुकुटधर पान्डेय आदि की रचनाओ मे छायावाद की सूक्ष्म भावव्यजना तथा रगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग मे पुष्पित पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एव चेतना का सस्कार धारण कर, हिंदी काव्य के प्रागण मे नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।

प्रसाद जी छायावाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके युग मे आने तक हिन्दी कविता के अतर्विधान मे भी बॅगला का, और विशेषकर कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य का. अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ चुका था। कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बनकर आए। उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावो का वैभव, नवीन कल्पना का सौन्दर्य, नवीन छदो की स्वर-झकृति प्रदान कर उसे विश्व प्रम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान प्ररणा हिन्दी काव्य साहित्य को मिली वही वास्तव मे छायावाद के रूप मे विकसित हुई।

कवीन्द्र रवीन्द्र के आगमन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। बॅंगला मे भारतीय पुनर्जागरण का समारम्भ हो चुका था। एक ओर श्री रामकृष्ण परमहस जी के आविर्भाव तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से आध्यात्मिक जागरण तथा सर्व धर्म समन्वय का प्रकाश फैल चुका था, दूसरी ओर स्वदेशी आदोलन के रूप मे राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना जाग्रत हो उठी थी। ब्रह्म समाज के रूप मे पूर्व तथा पश्चिम की सस्कृतियो का समन्वय करने की ओर भी कुछ लोगो का ध्यान आकृष्ट हो चुका था।

रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर स्वय भी ब्रह्म समाजी थे। कवीन्द्र महान् प्रतिभा से सपन्न होकर आये थे। उन्होने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियो का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सारतत्वो का सग्रह अपने अतर मे कर लिया था। और अनेक छदो तालो तथा लयो मे अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढिग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातो से जाग्रत्, विमुक्त तथा विमुग्ध कर उसे एक नवीन आकाक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नो मे मडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होने पश्चिम के यत्रयुग के सौन्दर्य मे वेष्ठित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनो के लिये समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर झकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सोन्दर्यबोध का झरोखा कल्पनाशील युवक साहित्यकारो के हृदय मे खोल दिया था।

इसी काव्यमय आध्यात्मिक आलोक, सौन्दर्य चेतना तथा सृजन कल्पना की मुक्ति को ग्रहण कर हिन्दी मे छायावाद ने प्रवेश किया। द्विवेदी-युग की पौराणिक भावना, कला परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग मे एक नवीन विराट् आध्यात्मिक चेतना, नवीन छद और शैलियों के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्वप्रेम की भावना के रूप मे परिणत हो गये। प्रसाद जी का झरना जैसे हिन्दी मे एक नवीन अभिव्यक्ति का झरना था। उनके "आँसू" के कणो में जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावनात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यजना का वैचित्र्य लेकर उमड़ उठी। प्रसाद जी की "कामायनी" मे छायावाद का अतःस्पर्शी गाभीर्य, सौन्दर्य, तथा विचार सामजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक प्रासाद के रूप मे साकार हो उठा। निराला जी ने छायावादी कविता को छदो के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक अधिक व्यापक भूमि पर खडा कर दिया। उन्होने अपनी उज्वल, ओजपूर्ण शैली द्वारा भारतीयदर्शन के आलोक को वितरित किया। 'परिमल' तथा 'गीतिका' मे उनके अनेक प्रगीत गीति काव्य की परिपूर्णता प्राप्त कर सके हैं। छायावादी कविता मुख्यत. प्रगीतों का रहस्य इगितमय सौन्दर्य लेकर प्रस्फुटित हुई। महादेवी जी के प्रगीत इस

दृष्टि से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरी ओर श्री नवीन जी, भारतीय आत्मा तथा दिनकर जी ने राष्ट्रीय भावना को छायावादी परिधान प्रदान कर उसे अधिक सजीव सक्रिय, ओजपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी बना दिया। छायावाद के आकाश मे और भी अनेको नक्षत्र प्रकाश पूर्ण व्यक्तित्व लेकर जगमगा उठे। जिनकी अमर देन से हिन्दी का काव्य साहित्य अनेक रूप से सम्पन्न हुआ।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के मध्यवर्ती काल मे हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्राय. सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गई। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा आकाक्षाओ का वैभव, जो विचार सामजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियो की वास्तविकता पर आधारित था। मानव चेतना तब युग की बदलती हुई, कठोर वास्तविकता के निकट सपर्क मे नही आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामजस्य की भावना केवल मनो-भूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्व धर्म समन्वय, सास्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी जिससे छायावाद ने प्रेरणा ग्रहण की थी। और अनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानो से विरक्त होकर अधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर आई और मार्क्स के द्वान्दात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य चेतना को जन्म देने मे सलग्न हो गई। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोणो को प्रभावित किया उसी प्रकार फ्रायड युग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषको ने रागवृत्ति सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण मे एक महान क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलत· छाया-वादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति सदिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचार धाराओ से अधिक या कम मात्रा में प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुठित आशा-आकाक्षाओ को अभिव्यक्ति देने के लिये सक्रान्ति-काल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

किन्तु छायावाद की जो सीमाएँ सूक्ष्म धरातल पर थी, प्रगतिवादियो की वही सीमाएँ स्थूल धरातल पर है। छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव मे आध्यात्मिक चेतना को अनुभूति नही प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अविदर्शनो, मान्यताओ तथा धारणाओ से प्रभावित हुआ था। इसीलिये वह युग-जीवन की कठोर वास्तविकता से कट कर कुछ दार्शनिक एव मानसिक विरोधो मे सामजस्य स्थापित कर सतुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा। इसी प्रकार आज के अधिकाश प्रयोगवादी एव तथाकथित प्रगतिवादी कलाकार पिछले अन्तर्मुख आदशो तथा नए बहिर्मुख यथार्थ के बीच प्रतिदिन बढती हुई गहरी खाई मे गिर कर तथा सूक्ष्म के प्रति, आदर्श के प्रति, व्यक्ति के प्रति अपना विद्रोह प्रकट कर सक्रान्ति-काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो तथा सामूहिक सर्व-साधारणता को वाणी देकर सतोष करना चाहते हैं।

यदि मैं कामायनी लिखता

जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणो को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री के दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नही की जा सकती उसी प्रकार कामायनी जैसी एक महान कलाकृति की स्वर सगति को भग कर फिर से उसका निर्माण करने की सम्भावना मन मे नही उठती। कामायनी हिमालय सी दुर्लंघ्य न हो पर श्रद्धा और मन की समरस तन्मयता की पावन ममाधि ताजमहल सी आश्चर्यजनक अवश्य है। यह अपने युग की सर्वांगपूर्ण कृति न हो पर सर्व श्रेष्ठ कृति निश्चय पूर्वक कही जा सकती है।

पिछले पचास वर्षों मे हिन्दी जगत मे, भाषा तथा साहित्य सृजन की दृष्टि से, एक महान क्राति उपस्थित हुई है। इन वषो मे बृहत् चोटी का निर्माण न हुआ हो किन्तु महान तथा व्यापक परिवर्तन अवश्य हुए हैं। भारतेन्दु का स्नेह स श्रम पूर्वक स्मरण करते हुए हम सहसा द्विवेदी युग मे प्रवेश करते हैं जिसकी सुष्ठु सतुलित व्यवस्था को देख कर मन को सन्तोप तथा प्रसन्नता होता है। कुहासा छॅट जाता है: खड़ी बोली निर्भीक रूप के आगे कदम बढाने लगती है। उसकी गति मे एक नपा तुला सौन्दर्य, अगो मे कटा-छॅटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुजार करने लगते है आम्र की सद्य' मंजरित डाली से पुस कोकिल माधुर्य ही श्रीवृष्टि करने लगता है. और कही नवीन प्रयत्नों की वाटिकाओ मे नवीन जागरण का स्पष्ट गुजरण सुनाई पड़ता है! रीति काल की कलारूढ परंपराओ को अतिक्रमण कर साहित्य चेतना सुदूर अतीत के गौरव के मडित होकर निखर उठती है। पौराणिक सगुण ह्रास युग के रस विलास से ऊब कर खड़ी बोली के मा॰यम से नवीन सुगठित कलेवर धारण करने लगता है। भावना मे फिर से उदात्त आरोहण परिलक्षित होने लगता है। यत्र-तत्र प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किन्तु सर्वत्र चिरकालीन सास्कृतिक प्रवाह का करुण क्रदन तथा देश प्रेम की जाग्रत् भारती का आह्वान वातावरण को ओत-

प्रोत कर देता है। सास्कृतिक पुनर्जागरण के सुमेरु की तरह राष्ट्रकवि गुप्त जी का महान व्यक्तित्व सर्वोपरि शिखर की तरह उठ कर ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

द्विवेदी युग के बाद छायावाद के युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव बीथियो से निकलकर , लाज भरे सौंदर्य मे लिपटी, एक नवीन काव्य चेतना युग के निभृत प्रागण को सहसा स्वप्न मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला सकेतो के अरूप सौदर्य मे तिरोरहित होकर भावना के सूक्ष्म अवगुठनो के कारण रहस्यमयी प्रतीत होने लगती हैं। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन प्रतिदिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्स्ना की नवीन मौन मधुरिमा के सामने अनाकर्षक लगने लगता है। अपनी अर्धखिली कलियो के देहपात्र मे छायावाद एक नवीन प्रेम तथा सौदर्य की ज्वाला को लेकर आया जिसके मर्ममधुर स्पर्श से हृदय की शिराए शीतल वेदना की आकुल शाति मे सुलगने लगी!

इस नवीन युग के प्रवर्तक रहे हैं हमारे चिर परिचित 'श्री जयशकर प्रसाद।' रूप से अरूप की ओर आरोहण, सत्य से स्वप्न की ओर आकर्षण, जो एक नवीन रूप तथा नवीन सत्य के आह्वान का सूचक था, सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र की भुवन-मोहिनी हृदयतत्री मे जाग्रत तथा प्रस्फुटित हुआ। वह भारतीय दर्शन तथा उपनिषदो के अध्यात्म के जागरण का युग था, जिसकी चेतना हिन्दी मे खड़ी बोली की ऊबड़-खाबड़ खुरदरी धरती से सघर्ष करती हुई प्रसाद जी के काव्य मे अकुरित हुई। छायावाद केवल स्वप्न सम्मोहन ही बन कर रह जाता, यदि प्रसाद जी उसमें कामायनी जैसे महान काव्य सृष्टि की अवतारणा न कर जाते! कामायनी को छोड़कर, प्रसाद जी मे भी अन्यत्र वह नवीन प्रकाश केवल अभिव्यक्ति की घनीभूत पीड़ा ही बन कर रह गया। हो सकता है कि प्रसादजी मे साकेत से जयभारत एव पृथ्वी पुत्र तक का बृहत् विस्तार न हो पर उनमे कामायनी जैसी महान कृति को जन्म देने की मौलिकता, गम्भीरता अथवा उच्चता अवश्य है! इसमें सदेह नही कि कामायनी का कवि अत्यत महत्वाकाक्षी था, और कामायनी उसका एक अत्यत महत् प्रयत्न है: वह उसमें कहाँ तक सफल अथवा विफल हुआ, अथवा क्या कामायनी और भी सफल एव सर्वांगपूर्ण

बनाई जा सकती थी—यह दूसरा प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न कहाँ तक सगत है यह भी विचारणीय है।

आइए, इसी ऊहापोह मे हम कामायनी के सुरम्य प्रासाद मे प्रवेश करें। कामायनी के आमुख मे प्रसाद जी वेदो से लेकर पुराणो और इतिहास मे बिखरा हुआ, आर्य साहित्य मे मानवो के आदि पुरुष 'मनु' तथा कामगोत्रजा श्रद्धा और तर्कबुद्धि इडा का सक्षिप्त विवरण देते हुए अत मे लिखते है . 'मनु श्रद्धा इडा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनो पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सबध क्रमश. श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।' आगे चलकर वे कहते हैं —'कामायनी की कथा शृखला मिलान के लिए कही-कहीं थोडी बहुत काल्पना को भी काम मे ले आने का अधिकार, मै नही छोड़ सका हूँ।'

कामायनी को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक मनु श्रद्धा आदि का ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है वह केवल उसकी अतीत की गौरव-मय पृष्ठभूमि, उसके पावित्र्य तथा उसके प्रति भावना जनित उपासना तक ही सीमित है। शेष केवल आदि मानव के मनोविधान के प्रस्फुटन, प्रवृत्तियो के सघर्ष, उनके निर्माण विकास तथा समन्वय से सबद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना सृष्टि भर है, जो कामनाओ की शिराओं से जकडी हुई है, जिसके शिखर पर अध्यात्म का समरस शुभ्र प्रकाश प्रतिफलित हो रहा है।

इसके स्पष्टीकरण के लिए पहिले कामायनी के कथानक पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। वह सक्षेप मे इस प्रकार है :—कामायनी मे पद्रह सर्ग हैं। जिनके नाम है क्रमश' चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, सघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनद, जो मनुष्य के मन की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियो के नाम हैं और जिनका विकास क्रम अधिकतर कल्पना की सुविधा के अनुसार ही रखा गया प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध जल प्लावन के कारण देवताओ की वैभव सृष्टि जलमग्न होकर विनष्ट हो जाती है। मनु की चिन्ता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुँचने के बाद वह देव सृष्टि के ह्रास का युग था,,

जिसका साकेतिक अर्थ कामायनी मे नही मिलता । देवता अत्यत विलास रत रहते थे—मनु के शब्दो मे—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मदमे
भोल थे हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के मद मे ।
वह उन्मत्त विलास क्या हुआ ? स्वप्न रहा था छलना थी—इत्यादि—

अस्तु—प्रथम सर्ग मे जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि पर उत्तुग हिम शिखर का शुभ्र सौन्दर्य नैराश्य से निखरते हुए दृढ विश्वास की तरह मन को मोहक लगता है। भीगे नयन मनु का हृदय विगत स्मृतियो से उद्वेलित तथा चिन्ताग्रस्त है। धीरे धीरे प्रलय प्रकोप शात हो जाता है मनु मे आशा का सचार होता है, वह फिर से यज्ञ करने लगते हैं। एक दिन श्रद्धा से उनका साक्षात् होता है, जो केवल मन के निचले स्तरो मे काम तथा वासना के रूप मे प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता हे। कालातर मे मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। असुर पुरोहितो के प्रभाव से वे हिसक तथा अहेरियो का जीवन व्यतीत करने लगते हैं। श्रद्धा इससे असतुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद विवाद से ऊबकर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। उन्हे उसके महत्व को पहिचानने के लिए और भी निम्न प्रवृत्तियो का अनुभव प्राप्त करना था। सरस्वती के तट पर वह हैमवती छाया सी इडा के सपर्क मे आते हैं—जो भेद बुद्धि या तर्क बुद्धि की प्रतीक है। इड़ा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से वहाँ राज्य बसाते हैं, और भोग मे रत रहते हैं। श्रद्धा इस बीच पुत्रवती हो जाती है, वह मनु की प्रतीक्षा के निराश होकर उनकी खोज मे निकलती है। इड़ा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते हैं। प्रजा भी उनसे असतुष्ट होकर विद्रोह करती है। मनु युद्ध मे आहत होकर गिर पड़ते हैं। यह उनका चरम पतन है। इसके बाद मनु का उत्थान प्रारभ होता है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते हैं और वहाँ से चुपके से निकल भागते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौप कर मनु की खोज मे जाती है। वह भागवत् करुणा की तरह सदैव आदि मानव की रक्षा के लिए आतुर रहती है। मनु उसके साथ फिर मन के शृंगों का आरोहण करते हुए

इच्छा, ज्ञान, कर्म के त्रिपुर मे पहुँचते हैं। श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनतर मनु मानस तट पर नित्य आनद लोक की प्राप्ति करते हैं, जहाँ विश्व के सुख दुख नही व्याप्त होते। उस समतल अधिमन की भूमि पर

समरस थे जड या चेतन, सु दर साकार बना था।

चेतनता एक विलसती, आनद अखड घना था।

कामायनी का कथानक उसमे निहित काव्य दर्शन की अवतारणा के लिए केवल सक्षिप्त रग मच का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमे कुछ भी विशेषता नहीं है। उसमे न विस्तार है, न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढता, हृदयमथन अथवा भावो के उत्थान पतन की सूक्ष्मता भी नही है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहो मे लिपटा हुआ प्रसाद जी के इच्छा इगित पर चलता प्रतीत होता है। भाव भूमिपर आधारित होते हुए भी भावनाओ के सवेग मे केवल शिथिलता तथा अनगढपन ही अधिक मिलता है। अत्यत साधारणीकरण के कारण वैशिष्ठ्य का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के बोच के कुहासे से गुफित छायापट की तरह, तीव्र अनुभूति के सवेदन मे घनीभूत नही हो पाया है। पर जैसा कुछ भी धुला-घुला रगो का छाया प्रसार है, वह सुथरा, मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

कला चेतना की दृष्टि से कामायनी छायावादी युग का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। स्वच्छाया व्यतिकर की तरह उसकी कला भावो की धूमिल वाष्प भूमि मे प्रस्फुटित होकर नेत्रो को आकर्षित किए बिना नही रहती। उसमे प्राणो का मर्म मधुर उन्मन गुंजार, भावनाओ का आरोहण, तथा व्यापक सौन्दर्यबोध की नवोज्वलता है। कुछ सगो मे प्रसाद जी की कला हिमशिखरो पर फहराती हुई ऊषा की स्वर्णिम आभा की तरह हृदय को विस्मयाभिभूत कर देती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। अधिकतर वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुंठित मुख की तरह, मन से आँख मिचौनी खेलती रहती है। वह हृदय को तन्मय नही करती केवल प्राणो मे रस स्रवण करती है। लज्जा सर्ग का आरम्भ प्रसाद जी के कला जगत् के लिए उपयुक्त प्रवेशद्वार का काम करता है।

'कोमल किसलय के अंचल मे, नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी
गोधूली के धूमिल पट मे दीपक के स्वर मे दिपती सी,
मजुल स्वप्नो की विस्मृति मे मन का उन्माद निखरता ज्यो
सुरभित लहरो की छाया मे बुल्ले का विभव बिखरता ज्यो
नीरव निशीथ मे लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती,
कोमल बाहे फैलाये सी आलिंगन का जादू पढती
किन इन्द्र जाल के फूलो मे लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधुधार ढरे।

इत्यादि।

इन उपमानो द्वारा प्रसाद जी लज्जा का मूर्तिकरण करते हैं। सुरभित लहरो की छाया के बाद बुल्ला शब्द खटकता है, जादू पढती तथा मधुधार ढरे भी अच्छे नही लगते। शब्दो के चयन मे इस प्रकार की शिथिलता कामायनी मे अत्यधिक मिलती है, जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रसाद जी को उसे दुबारा देखने का समय नही मिला। वैसे साधारणतः कामायनी की कला चेतना मे जैसा निखार मिलता है कला शिल्प अथवा शब्द शिल्प मे वैसी प्रौढता नहीं मिलती। कहीं कही छद भग तो असावधानी या छापे की गलती से भी हो सकता है, किंतु बेमेल शब्द तथा श्लथ पद विन्यास इस महान कृति के अनुकूल नही लगते। प्रायः प्रत्येक सर्ग एक स्वतंत्र कविता की तरह आरभ होता है,उसमे बहुत कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है जो प्रायः काव्य द्रव्य की दृष्टि से बहुमूल्य नही और जिस पर संयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे सतुलन श्री वृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन' शीर्षक सर्ग का छन्द भी उसके उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु इन सब बातों का विस्तार पूर्वक विवेचन के लिए यह उपयुक्त अवसर नही है। 'रहस्य' तथा आनद नामक सर्गो मे कुछ स्थलो को छोड़कर कल्पना के आरोहण के साथ ही कला मे भी सयम का सुमधुर निखार आ गया है। यथा—

संध्या समीप आई थी उस सर के वल्कल वसना
तारों से अलक गुँथी थी, पहने कदम्ब की रसना

खगकुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि लेती थी ताने अभिनव !
श्रद्धा ने सुमन बखेरा शत शत मधुपों का गुंजन
भर उठा मनोहर नभ में मनु तन्मय बैठे उन्मन, इत्यादि ।

अब हम सक्षेप मे कामायनी के दर्शन पक्ष पर भी विचार कर लें । मानव मनकी प्रवृत्तियो का सघर्ष, उत्थान पतन तथा उन्नयन ही कामायनी की दर्शन पाठ है । तर्क बुद्धि इडा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका नि श्रेयस भरा सदेश है । यह सब ठीक है । मनु और इड़ा के आख्यान मे वर्तमान युग सघर्ष का भी यत्किंचित् आभास मिलता है । यद्यपि उसमे नैतिक पतन को ही सघर्ष का कारण बतलाया गया है जो आज की युग की समस्या के लिए पूर्णत घटित नही होता । किंतु उसके बाद जो कुछ है वह केवल चिर परिचित तथा पुरातनतम जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है,—अतिक्रम इस अर्थ मे कि वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुँच गया है । मनु इड़ा प्रेरित जीवन सघर्ष के विरक्त हो भाग खडे होते है और जीवन की भूमि को छोडकर मनके सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक मे पहुँचकर जीवन समस्याओ का समाधान पाते हैं जो सुख दुख भेद भाव के द्वन्द्वो से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ा स्थल है । इड़ा श्रद्धा त्रिपुर और उनके पारस्परिक सबध मे तथा आनन्द की स्थिति के उद्घाटन के बीच अनेक प्रकार की जो छोटी मोटी दार्शनिक असगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक मे पहुँचकर विश्व जीवन के सुख दुखमय सघर्ष से मुक्त होने का सदेश कामयानी में मिलता है वह मुझे पर्याप्त नही लगता । मै मानव चेतना का आरोहण करवा कर उसे वहीं मानस तट पर अथवा अधिमानस भूमि पर कैलाश शिखर के सान्निध्य मे छोडकर संतोष नही करता । वह आनद चैतन्य तो है ही और जीवन सघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है । पर यह तो विश्व जीवन की समस्याओ का समाधान नही है ! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इडा श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—

उसके सामने जो चिरतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक परलोक के बीच का, धरती स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बोच के व्यवधान को मिटाकर यह अतराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिए नि सशय ही इडा श्रद्धा का सामजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक जीवन की ओर नही लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नही कर सकते। ससार की समस्याओ का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किंतु व्याधि कैसे दूर हो ? क्या इस प्रकार समस्थिति मे पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से ?

यही पर कामायनी कला प्रयोगो मे आधुनिक होने पर भी और कुछ अशो मे भाव पारधान से भी आधुनिक होने पर भी वास्तव मे जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नही दे सकी। और अभिव्यक्ति देना तो दूर उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी सभावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नही कर सकी। वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एव मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचोन व्यक्तिवादी विकसित एव समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहण मूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य युग की अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी कामायनी इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान् काव्य कृति है, इसमे मुझे सदेह नही। वह हमारे युग—प्रवर्तक प्रसाद जी का शुभ्र शात सौन्दर्य का पवित्र यशःकाय है, जिसे हिन्दी साहित्य म और सभवतः विश्व साहित्य मे भी जरामरण का भय नहीं है.. मै यदि कभी कामायनी लिखने की असभव बात सोचता भी तो मैं उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नही बना सकता, जितना कि उसे महान क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसाद जी बना गए हैं।

कामायनी उनके सौन्दर्य, प्रेम, तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की तरह सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठको को शाति, सुख, सात्वना देकर आत्म कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एक मात्र मेरे हृदय की कामना है।

काव्य संस्मरण

जिस प्रकार अनेक रगो मे हँसती हुई फूलो की बाटिका को देखकर दृष्टि सहसा आनद चकित रह जाती है उसी प्रकार जब काव्य चेतना का सौन्दर्य हृदय मे प्रस्फुटित होने लगता है तो मन उल्लास से भर जाता है। न जाने जगल में कहाँ किन घाटियो की छायाओ मे, किन गाते हुए स्रोतो के किनारे तरह-तरह की फैली झाडियो की ओट मे पत्तो के झरोखो से झाकते हुए ये छोटे बडे फूल इधर उधर बिखरे पडे थे, जब कि मनुष्य के कला प्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचान कर, उनका सकलन कर तथा उन्हे मनोहर रगो की मैत्री मे अनेक प्रकार की क्यारियो तथा आकारो मे साज सँवार कर उन्हे वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओ तथा आकाक्षाओ के गूढ तहो मे छिपे हुए अपनी जीवन चेतना के आनद सौदर्य तथा रस की खोजकर उसे काव्य के रूप मे सचित किया।

जिस प्रकार बादलों के अधकार से सहसा अनेक रगो के रहस्य भरे इद्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनद विभोर होकर किलकारी भरने लगता है उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मन मेघदूत की कुछ पक्तिया गुनगुनाने लगा। मै तब नौ-दस साल का रहा हूँगा। मेरे बडे भाई बी ए की परीक्षा समाप्त कर छुट्टियों मे घर आए हुए थे और बडी भाभी को मधुर कठ से गाकर राजा लक्ष्मण सिंह का मेघदूत सुनाया करते थे। मै चुपचाप उनके पास बैठकर अत्यत तन्मयता के साथ मेघदूत के पद सुना करता था और एक अज्ञात आकुलता से मेरा मन चचल हो उठता था, सभवत. भाई साहब के कठ स्वर के प्रभाव के कारण। तब मै यह नही जानता था कि मेघदूत कालिदास की रचना है और यह केवल उसका हिन्दी अनुवाद है। बार बार सुनने के कारण मुझे मेघदूत के अनेक पद कठस्थ हो गए थे और एकात मे मेरा मन उन्हें दुहराया करता था, जैसे किसी

ने उन्हे अपने आप मेरे स्मृति पट पर अकित कर दिया हो।

सखा तेरे पी को जलद प्रिय मै हूँ पतिवती
सँदेसो ले वाको तव निकट आयो सुन सखी!

—यह प्रिय का जलद मेरे लिए भी जैसे कुछ सदेश लेकर आया है तब मै इसे नही जानता था। जिसे अब मै शिखारिणी छद के नाम से जानता हूँ तब वह मुझे बहुत प्रिय लगता था। मै प्राय गाया करता था—

मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन में
मुखाभा चद्रा मे चकित हरिणी मे दृग मिले—
चलोर्मी मे भौहे, चिकुर बरही की पुछन में
न पै हा काहू मे मुहि सकल तो आकृति मिले!

अब मुझे लगता है कि विरही यक्ष की तरह ही मै भी न जाने कब से चकित हरिणी सी दृगवाली कविता कामिनी के लिए छाया पख मेघ द्वारा सदेश भेजता रहा हूँ—किन्तु उसकी कोई पूर्ण आकृति—जिससे मन को सतोप हो ऐमी छवि, मै अभी तक नही अकित कर पाया हूँ, और मन ही मन सोचता हूँ '—

घाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह,
ऐसो घन कैसे दूत काज भुगतावेगो।
नेह कौ सँदेसो हाथ चातुर पठैवे जोग,
बादर कहांजी ताहि कैसे के सुनावेगो॥

महाभारत के युद्ध का समर्थन जिस प्रकार गीता द्वारा कराया गया है उसी प्रकार मेघ द्वारा दूत कार्य कराने का समाधान मानो उपर्युक्त चरणों द्वारा किया गया है। मेघदूत मे यत्र तत्र आये हुए प्रकृति वर्णनों ने तो मुझे बहुत ही मुग्ध किया है। यहाँ केवल एक ही उदाहरण देकर सतोप करूँगा .

जल सूखत सिन्धु भई पतरी तन बेनी सरी को दिखावती है।
तटरूखन ते झरे पात पके, छबि पीरी मनो अँग लावती है॥
धरि सोहनो रूप बियोगिनी को वह तो में सुहाग मनावती है।
करियो घन सो विधि वाके लिये तन छीनता जो कि मिटावती है॥

छुटपन मे मुझे विरहिणी नारी की रूप कल्पना अत्यत सुन्दर लगती थी, सभव है यह मेघदूत ही का प्रभाव हो।

शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहि लिखिके।
धरयो जौ लो चाहूँ तन अपन मेरे पगन मे॥
चले आँसू तौ लौं दृगन मग रोके उमगि के।
नहीं धाता धाती चहत हम याहू विधि मिले॥

इन पक्तियो को गाते तो आँखो मे बरबस आँसू उमड आते थे।

मेघदूत के अतिरिक्त मुझे शकुतला मे चौकडी भरते हुए हिरन का दृश्य भी बडा मोहक लगता था, जो इस प्रकार है—

फिर फिर सु दर ग्रीवा मोरत, देखन रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे, पिछलो गात समेटत आगे।
अधरोंथी मग दाभ गिरावत, थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अबही, धरत पाँव धरती जब तब ही।

इस 'पिछलो गात समेटत आगे'—का सस्कृत का रूप है—

पश्चार्धेन प्रविष्ट . शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वं कायम्—इस चरण मे तो जैसे हिरन की गति आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठती थी।

'**पहरे बलकल बसन यह लागत नीकी बाल**' वाले छद को जब पीछे मैने सस्कृत मे पढा तब तो जैसे शकुतला की समस्त मधुरिमा के सौरभ से हृदय भर गया। वह इस प्रकार है

सरासिज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्य,
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति
इ्यमधिक मनोज्ञा बल्कलेनापि तन्वी,
किमिवहिमधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्

अतिम पक्ति का सत्य तो बारबार जीवन मे परखने को मिलता रहा।

इस प्रकार मेघदूत और शकुन्तला के, राजा लक्ष्मणसिह कृत, हिन्दी अनुवादों ने ही छुटपन मे सब से पहले मेरे भीतर काव्य प्रेम की नींव डाली। इसके बाद जिन पक्तियो की ओर सर्व प्रथम मेरा ध्यान आकर्षित हुआ वह

तुलसीकृत रामायण की है, जिसका पाठ मेरी बहिन किया करती थी—यह भी छुटपन ही की बात है—वे पंक्तियाँ है—

जय जय जय गिरिराज किशोरी, जय महेश मुख चन्द चकोरी।
जय गजवदन षडानन माता, जगत जननि दामिनि द्युति गाता॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना, अमित प्रभाव वेद नहि जाना।
भव भव विभव पराभव कारिणि, विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिणि॥

इन पंक्तियो की ओर मेरा ध्यान इसलिए भी आकर्षित हुआ कि मै गिरिराज हिमालय के अंचल मे पला हूँ और रातदिन हिमशिखरो का दृश्य देखता रहा हू। पार्वती की इस स्तुति को सुनकर हिमालय के प्रति मेरी श्रद्धा बढ गई थी और जब उसके वाष्प शुभ्र शृङ्गो मे कभी बिजली चमक उठती थी, जगत जननि दामिनि द्युति गाता का स्मरण हो आने से, मेरा मन आखो के सामने दिगत व्यापी हिम श्रेणियो को देखकर विचित्र सभ्रम के भाव से भर जाता था।

मध्ययुगीन हिन्दी कवियो मे पीछे जिस रचना ने मुझे सबसे अधिक मोहित किया वह है श्री नरोत्तमदास कृत सुदामा चरित, जिसे मैंने न जाने कितनो बार पढा है।

सीस पगा न झगा तन मे प्रभु जानै को आहि, बसे केहि ग्रामा,
धोती फटी सी, लटी दुपटी, अरु पाय उपानह की नहि सामा।
द्वार खडो द्विज दुर्बल, देखि रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा॥
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।

द्वार पर खड़ी सुदामा की मूर्ति आँखो के सामने प्रत्यक्ष हो उठती थी और हृदय कौतूहल से भर जाता था कि देखें कृष्ण क्या कहते हैं? आज अनेक दीनहीन किसान मजदूरों के काव्य चित्र देखने को मिलते हैं—किन्तु नरोत्तम दास के सुदामा का वह जीवत सम्मोहन उनमे नहीं मिलता। सुदामा की स्त्री अपनी गृहस्थी का जो चित्र उपस्थित करती है वह तो जैसे बरछी की तरह हृदय मे चुभ जाता है।

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौ दधि दूध मिठौती

सीत वितीतत जो सिसियात तो हौ हठती पै तुम्हे न हठौती।
जौ जनती न हितू हरि सौ तो मै काहे को द्वारिका पेलि पठौती
या घर ते कबहू न गयो पिय, टूटो तयौ अरु फूटी कठौती।

वस्तु स्थिति की ज्ञाता सुदामा की पत्नी उसे द्वारिका जाने को कई तरह से मनाती है—वह कहती है—जो रन अपार वै तुम्हे न पहचानि है ?—जो पै सब जनम दरिद्र ही सतायो तौ पै कौने काज आइ है कृपानिधि की मित्रई ?—किन्तु निरीह स्वामिमानी सुदामा उसे समझता है—सुख दुख करि दिन काटे ही बनैगे भूलि विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।

सुदामा का द्वारिका जाना, कृष्ण से मिलना और फिर लौट कर अपनी कुटी को न पहचान सकना—सभी वर्णन मेरे किशोर हृदय को अत्यन्त मर्म स्पर्शी लगते थे।

देव बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि अनेको कवियो के चमत्कार पूर्ण पदो ने तब मेरे मन को अनेक अनूठे भावो की सौरभ के रस सिक्त किया है। और भी प्राचीन कवियो मे विद्यापति मुझे बहुत प्रिय रहा है। उसकी कल्पना, उसका सौन्दर्य बोध तथा कवित्व शक्ति सदैव चिर नवीन रहेगी।

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे
जीवन बिनु तन तन बिनु जीवन, की जीवन पिय दूरे।—पंक्तिया मन को एक अज्ञात अभाव से आकुल कर देती थी। सूरदास के—'खजन नैन रूप रसमाते—चचल चारु चपल अनियारे, पल पिजरा न समाते'—पद चचल पक्षियो की तरह पख मार कर कल्पना के आकाश मे बार बार मॅडराया करते थे।

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो,
इक लोहा पूजा में राख्यो इक घर बधिक परयौ
पारस गुन अवगुन नहि देखत कचन करत खरयो

इन पदों से मुझे सदैव बड़ी सात्वना मिलती रही है।

खड़ी बोली के कवियों मे गुप्तजी के 'जयद्रथ वध' नामक खड काव्य के अनेकों चरण मुझे कठस्थ हो गए थे। उनमे उत्तरा का विलाप मुझे विशेष रूप के प्रिय लगता था।

गति मति सुकृति धृति पूज्य प्रिय पति स्वजन शोभन सपदा
हा एक ही जो विश्व मे सर्वस्व था तेरा सदा
यो नष्ट उसको देखकर भी बन रहा तू भार है
हे कष्टमय जीवन तुझे धिक्कार बारम्बार है

इन चरणो को मै प्राय गुनगुनाया करता था। आगे चलकर तो गुप्त जी की अनेक रचनाओ से मुझे प्रेरणा मिली है। उनकी नवीनतम कृतियो मे 'पृथवी पुत्र' मुझे विशेप प्रिय है। उस समय 'प्रिय प्रवास' के भी अनेक अश मुझे अच्छे लगते थे। विशेपकर यशोदा और श्रीराधा का विलाप, अब भी मुझे उसकी अनेक पक्तियाँ याद हें।

पत्रो पुष्पो रहित विटपी विश्व होवे न कोई
कैसी ही हो सरस सरिता वारिशून्या न होवे,
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का
मोती ऐसा रतन अपना हाय कोई न खोवे ! इत्यादि !

श्री नाथूराम शकर शर्मा के भी कई छदो ने मुझे मुग्ध किया है— विशेषकर उनकी 'केरेल की तारा' नामक रचना ने, जो तब कविता कलाप मे प्रकाशित हुई थी।

चौक चौक चारो ओर चौकड़ी भरेंगे मृग
खजन खिलाड़ियो के पङ्ख झड जाएँगे
आज इन अँखियों से होड़ करने को भला
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जाएगे—

अथवा मोहिनी की माँग के लिए 'तेजने तिमिर के हिये मे तीर मारा है' आदि अनेक पक्तिया आज भी स्मृति पट पर जग उठती हैं।

किन्तु कोई विशेष काव्य कृति कब क्यों प्रिय लगती है यह कहना सरल नही है। सभवत बहुत कुछ उस समय के वातावरण तथा चित्त वृत्ति पर भी निर्भर रहता है। और यदि कुछ रचनाए स्मृति पट पर अकित हो जाती हैं तो वह सदैव ही उनकी उत्कृष्टता का प्रमाण नही माना जा सकता।

प्रसादजी की रचनाओं के सपर्क मे मैं बहुत पीछे आया, उससे पहिले

मेरा परिचय निराला जी की कविताओ से हो चुका था। सन् ३०-३१ के बाद निरालाजी से व्यक्तिगत परिचय बढकर मैत्री मे परिणत हो चुका था। तब वह प्राय. जिन रचनाओ को सुनाया करते थे उनमे से अनेक कविताए मुझे विशेष प्रिय रही हैं। जैसे—

भर देते हो—**बार बार तुम करुणा की किरणो से**

तप्त हृदय को शीतल कर देते हो!—इत्यादि अथवा

जागो एक बार—**प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हे**

अरुण पङ्ख तरुण किरण खोल रहीं द्वार! आदि

और भी अनेक ऐसो रचनाए जिन्हे मै स्मृति से उद्धृत कर सकता हूँ और जो अब उनके परिमल नामक काव्य सग्रह मे सगृहीत हैं मुझे प्रिय रही हैं। परिमल की रचनाए मेरे अतर मे निरालाजी की घन गभीर मद्र मधुर ध्वनि मे अकित है। उनकी बड़ी रचनाओ मे तुलसीदास, सरोजस्मृति तथा राम की शक्ति पूजा मुझे विशेष प्रिय है। छोटी रचनाओ मे परिमल के गीतो के अतिरिक्त गीतिका के अनेक गीत बडे सुन्दर लगते हैं। यथा—सखि, वसत आया, भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया—अथवा—मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृगार—अथवा—मेरे प्राणो मे आओ, शतशत शिथिल भावनाओ के उर के तार सजा जाओ! इत्यादि। इस प्रकार गीतिका के अनेक गीत मुझे अत्यधिक प्रिय हैं जिनमे 'वीणा-वादिनि वर दे' भी है जो अत्यत लोक प्रिय हो चुका है।

प्रसाद जी की बीती विभावरी जागरी,

अबर पनघट पर डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी

गीत एक विचित्र आशा जागरण का मत्र लेकर मन को लुभाता है। और उनका 'हे लाज भरे सौन्दर्य बताओ मौन बने रहते हो क्यो—गीत तो जैसे प्रसाद जी की मूर्तिमती कविता की तरह हृदय मे अपने आप गूजता रहता है। प्रसाद जी के नाटको के अनेक अन्य गीतो की तरह कामायनी के भी अनेक अश मेरो स्मृति की प्रिय धरोहर में से हैं, जिनका उदाहरण देना सभव नहीं।

महादेवी जी का जो मर्म मधुर गीत सबसे पहिले अपनी अपलक

प्रतीक्षा की आशा लेकर मन मे प्रवेश कर गया वह उनके नीहार नामक सग्रह मे मिलता है।

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा, कितने संदेश, पथ मे बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणो का तार तार, अनुराग भरा उन्माद राग।
आँसू लेते वे पद पखार !

मुझे अपनी रचनाओ मे 'चाँदनी' सब के प्रिय हैं जो मेरे मन की अकाक्षाओं से मेल खाती है—

जग के दुख दैन्य शयन पर, यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही यह आँसू की नीरव माला—इत्यादि।

किंतु, '**जो तुम आ जाते एक बार**' को मै इससे भी अधिक अपने निकट पाता हूँ। आगे चलकर तो महादेवी जी ने अनेको ऐसे गीत दिए है जिन्हे कठस्थ कर लेने को जी करता है, जिनमे '**मै नीरभरी दुख की बदली**' भी है। साध्यगीत तथा दीप शिखा के अनेको गीत मन के मौन सहचर बनगए हैं जो आतर को स्वप्न ध्वनित करते रहते हैं।

बच्चन भी मेरा अत्यत प्रिय कवि तथा मित्र रहा है। निशा निमत्रण तथा एकात सगीत के अनेको गीत 'मध्य निशा मे पछी बोला' की तरह मनके अतरतम निराशा के स्तरो मे गहरी-वेदना उडेल देते हैं। वैसे बच्चन की ओर सबसे पहिले मै उसकी पग ध्वनि से आकर्षित हुआ।

उर के ही मधुर अभाव चरण बन, करते स्मृति पट पर नर्तन
मुखरित होता रहता बन बन,
मैं ही उन चरणों मे नूपुर नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी
वह पग ध्वनि मेरी पहचानी !—

बच्चन की कविता की पगध्वनि मेरे मन की चिर पहचानी बन चुकी है। उसकी मिलन यामिनी के अनेक गीत मुझे पसद है—विशेषकर—

प्राण, सध्या झुक गई गिरि ग्राम तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद

मेरा प्यार पहिली बार लो तुम !—इत्यादि

काव्य बन के चचन खजन श्री नरेन्द्र शर्मा को मै नरेन कहता हूँ—

सब के पहिले उसके 'प्रवासी के गीत' की प्रथम रचना ने ही मेरा ध्यान उसके कवि की ओर आकृष्ट किया—

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,

यह पक्ति जैसे जीवन की अनेक गहरी साँझो को मौन मुखरित कर जीवन विषाद के साक्षी की तरह मन की आँखो के सामने प्रत्यक्ष होती रहती है। उनके 'मिट्टी और फूल' की अनेक रचनाओ की पक्तियाँ मन मे जब तब गूज उठती हैं। नरेन्द्र के अतिरिक्त श्री अज्ञेय जी की भी अनेक रचनाए मेरी प्रिय रही हैं। 'हारिल' रचना मैने कई बार पढी है। 'हरी घास पर क्षण भर' की हरियाली मे क्षण भर ही नही अनेक बार देर तक विचरण करता रहा हूँ। 'नदी के द्वीप' कविता के समर्थन मे तो कई बार उनसे कह चुका हूँ कि मै भी नदी का ही द्वीप हूँ।

वैसे अनेको और भी रचनाएँ मुझे अपने समकालीन एव नवीन कवियो की प्रिय हैं जिनकी चर्चा समयाभाव के कारण इस छोटी सी वार्ता मे करना सम्भव नही। इनम 'दिनकर' की किरणो का सम्मोहन मुझे सर्वाधिक प्रिय है।

पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

मेरे विचार मे प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नही है कि वह पुस्तको से ही सीखे। पुस्तको के अतिरिक्त और भी अनेकानेक साधन है जिनसे मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है और अपने भीतर सुरुचि, शील तथा उच्चतम सस्कारों को सचित कर सकता है। पुस्तको की शिक्षा एक प्रकार से एकागी शिक्षा है। हम प्राय लोगो को कहते सुनते है कि अभी तुमने पढा ही है गुना नहीं। इससे यही ध्वनि निकलती है कि पुस्तकों की कोरी पढाई को जीवन और स्वभाव का अग बनाने के लिये और भी अनेक प्रकार की शिक्षाओ की आवश्यकता है, जिनमे सबसे प्रमुख स्थान शायद अनुभूति का है। वैसे भी सच्ची शिक्षा के लिये, जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुस्तका के अध्ययन मनन के साथ ही उपयुक्त वातावरण तथा सस्कृत व्यक्तियो का सहवास, जिसे सत्सग कहते हैं, अत्यन्त आवश्यक है जिनके बिना हम कोरे कागज़ी उपदेशो अथवा नैतिक सत्यो को अपने मन तथा स्वभाव का अग नही बना सकते। महान् व्यक्तियो के उन्नत विचारो तथा महान् ग्रथो के उत्तम आदर्शों को आत्मसात् कर उन्हे जीवन मे परिणत करने के लिये यह भी नितात आवश्यक है कि उन्हें अपने कायो एव आचरणा मे अभिव्यक्त करने के लिये हमे मनोनुकूल व्यापक सामाजिक क्षेत्र मिले। जिस देश या समाज मे बाह्य परिस्थितियाँ, व्यक्तिगत रागद्वेष तथा छोटे मोटे स्वार्थों के कारण, मनुष्य की उन्नत आतरिक प्रेरणाओं का विरोध करती हैं वहाँ भी शिक्षा का परिपाक अथवा व्यक्तित्व का यथोचित विकास नही हो पाता। ऐसी परिस्थितियाँ केवल नाटे, बौने, ठिगने, कुबड़े व्यक्तियो को जन्म देकर रह जाती हैं।

स्वभाव से ही अत्यन्त भाव प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तको की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जन समागम से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एव उनके मानसिक सत्सग से कहीं

अधिक सीखा है, जिसे मै सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ। इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है। भावुक तथा सवेदन शील होने के कारण मेरे भीतर स्वभाव का अश अत्यधिक रहा है। स्वभाव का अश, जिसमे अच्छा बुरा, ऊँच नीच सबल तथा दुर्बल सभी कुछ रहा है और अत्यधिक रहा है। छुटपन से ही मै सदैव अपने स्वभाव से उलझता रहा हूँ। अपने स्वभाव से सघर्ष करते रहने के कारण ही मै थोडा बहुत सीख सका हूँ, अपनी दुर्बलताओ तथा अपनी एकात आकाक्षाओ का ध्यान मेरे भीतर बराबर बना रहा है। अपने को भूल कर, आत्मविस्मृत होकर, अपने चिन्तन अथवा चिन्ता के घेरे से बाहर निकल कर शायद ही मै कभी आत्मविभोर भाव से ससार के साथ रह सका हूँ। अगर किसी ने मुझे इस भावना से मुक्ति दी है तो वह प्रकृति ने। प्रकृति के रूप को देखकर मै अनेकानेक बार आत्म विस्मृत हो चुका हूँ। जैसे मा बच्चे को अपनाती है, वैसा प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चचल मन की आकुल व्याकुलता को, जिसे मै किसी पर प्रकट नही कर सका हूँ और न स्वय ही समझ सका हूँ अपने मे ले लिया है। प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी है। ससार के छोटे मोटे सघर्षों तथा जीवन के कटु तिक्त अनुभवो के परे उसने एक व्यापक पुस्तक की तरह खुल कर मेरे भीतर अनेक सहानुभूतिए, सात्वनाए, स्नेह ममत्व की भावनाएं तथा अवाक् अलौकिक, अपने को भुला देने वाली, शक्तियो का स्पर्श अङ्कित किया है।

प्रकृति से मेरा क्या अभिप्राय है शायद इसे मै न समझा सकूगा। अगर किसी वस्तु को बिना सोचे बिचारे, केवल उसका मुख देख कर, मेरे मन ने स्वीकार किया है तो वह प्रकृति है। वह शायद मेरी ही एक अग है, सबसे स्निग्ध, उज्वल और व्यापक अग, जिसके प्रशात अतस्तल मे सब प्रकार के सद् असद्, उच्च क्षुद्र, तथा सुखदुख अपने आप जैसे घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं। उसकी एकात क्रोड़ मे बैठकर मै अपने को सब से बडा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सन्मुख नही हुई है। छुटपन मे दूसरो ने मुझे सदैव अपनी विकृतियों, सकीर्णताओ, कठोरताओ, निर्दयताओ तथा ढिठाइयो से दबाने का प्रयत्न किया है। अशिष्टता, रुखाई तथा असभ्यता का सामना करने मे अपने को अक्षम

पाने के कारण मै सदैव, दूसरो की अयोग्यता के सामने भी सकोचवश सिकुड कर रहा हूँ। किन्तु प्रकृति ने अपने आगन में मुझे सदैव खुल खेलने को उसकाया है। उसने मेरे अनेक मानसिक घावो को अपने प्रेम स्पर्श से भर दिया है, मेरी अनेक दुर्बलताओ को अपनी प्रेरणाओ के प्रकाश से धोकर मानवीय बना दिया है। इस प्रकार जो सर्व प्रथम पुस्तक मुझे देखने को मिली, वह प्रकृति ही है।

फूल, चाद, तारे, इन्द्रधनुष और जगमगाते हुये ओसो से भरी इस रहस्यमयी प्रकृति के बाद...जिसका आनन्द सदेश मुझे साय प्रात' पक्षी देते हैं जिस दूसरे महान् ग्रथ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय मे अकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेट। बाइबिल भी उदार मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अग बन गई। चिन्तन और बौद्धिक व्यायाम की कठोरता से अछूती, अतरतम की सहज मर्म पूर्ण पुकार की तरह, बाइबिल, जैसे भागवत् हृदय की, प्रेम करुणा से भरी, पवित्र भावना की ज्योति प्रेरित वाणी है। वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नही, आत्मा की भाव विगलित, कविता की कविता है। क्राइस्ट के अश्रुधौत, महत् त्याग पूर्ण, मूर्तिमान प्रेम के व्यक्तित्त्व ने मेरे हृदय को मुग्ध कर दिया। दर्शन और मनोविज्ञान के नीरस तथ्यो से ऊब कर मेरा हृदय चुपचाप, शिशु के अखड पवित्र विश्वास की तरह सरल मधुर, बाइबिल की दिव्य लय में बध गया। Look at the lilies of the field, how they grow कहने वाले महान् अर्तद्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वतः स्फूर्त सूक्ष्म अंतः सौन्दर्य का रहस्य खोल दिया। Resist not evil ने जैसे ईश्वरीय सत्य की अवश्यम्भावी अतिम विजय का सदेश मेरे मन मे अकित कर दिया। Blessed are they that mourn, for they shall be camforted, Blessed are the meek: for they shall inherit the earth जैसी सूक्तियो ने ईश्वर की अक्षय करुणा और प्रेम के न्याय के प्रति मेरे हृदय को अडिग विश्वास से भर दिया। इस क्षण भंगुर, रागद्वेष और कलह कोलाहल के अधकार के परदे को चीर कर सब से पहले बाइबिल ने ही मेरे हृदय को ईश्वर की महिमा, स्वर्ग के राज्य, तथा मानवता के भविष्य की ओर

आकृष्ट किया। 'ye are the salt of the earth, ye are the light of the world' आदि वाक्यो ने मेरे मन की वीणा मे एक अक्षय आशावादिता का स्वर जगा दिया। सब मिलाकर बाइबिल के अध्ययन ने ससार की अचिरता और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुये मेरे अत.करण को एक अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया। अब भी बाइबिल को पढने से उसी प्रकार भगवत् प्रेम के अश्रुओ से धुला, आत्म त्याग से पवित्र, जीवन के सात्विक सौन्दर्य का जगत, अपने मौन मधुर रूपरगो के वैभव मे मेरी मन की आँखों के सम्मुख प्रस्फुटित हो उठता है, जिसके चारो ओर एक अखडनीय शाति का स्निग्ध वातावरण व्याप्त रहता है, जो दिव्य औषधि की तरह मन की समस्त श्राति को मिटाकर उसे नवीन शक्ति प्रदान करता है।

बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदो के अध्ययन ने भी मेरे हृदय मे प्रेरणाओ के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है। 'जग के उर्वर आँगन मे बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अनन्त प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अन्तर मे उपनिषदो ने ही बरसाया है। उपनिषदो का अध्ययन मेरे लिये शाश्वत प्रकाश के असीम सिन्धु मे अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियों के वातायन हैं, जिनसे हृदय को विश्वक्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झाकियाँ मिलती हैं। अपने सत्य द्रष्टा ऋषियो के साथ चेतना के उच्च उच्चतम सोपानो मे विचरण करने से अत करण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया। मन का कलुष और जीवन की सीमाए जैसे अमृत के झरनो में स्नान करने से एक बार ही धुल कर स्वच्छ एवं निर्मल हो गई। उपनिषदो का मनन करने से मन के बाह्य आधार नष्ट हो जाते हैं। उसकी सीमित कुठित तर्कभावना को धक्का लगता है और बुद्धि के कपाट जैसे ऊपर को खुल जाते हैं। वह एक ऐसे अतीन्द्रिय केन्द्र मे स्थित हो जाता है जहाँ से वह साक्षी की तरह तटस्थ भाव से विश्व जीवन के व्यापारो का निरीक्षण करने लगता है। उपनिषदो मे भी ईशोपनिषद् ने नाविक के तीर की तरह मेरे मन के अन्धकार को भेदने मे सबसे अधिक सहायता दी है। 'ईशावस्यमिद सर्वं यत्किच जगत्या जगत' के मनन मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय मे जिज्ञासा

जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षण भगुर ससार के दर्पण मे उस शाश्वत के मुख का बिम्ब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यन्त बल तथा शाति प्रदान की।

उपनिपदो के अध्ययन के बाद जब मैने टाल्सटाय की My Religion नामक पुस्तक पढी तो मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मुझे लगा कि जैसे आकाश से गिर कर मै खाई मे पड़ गया हूँ। टाल्सटाय की विचारधारा पाप भावना से ऐसी कुठित तथा पीडित लगी कि उसके सपर्क मे आकर मेरे भीतर गहरा विषाद जमा हो गया। उपनिषदो के उज्वल, उन्मुक्त, अपापविद्ध ऊर्ध्वाकाश के वातावरण मे सॉस लेने वाले मन की गति जैसे श्राति क्लाति से शिथिल होकर निर्जीव पड़ने लगी। इससे उपनिषदो के ब्रह्मवाद का महत्व मेरे मन मे और भी बढ गया। इस देशकाल नामरूप के सापेक्ष जगत के परे जो सत्य का परात्पर शिखर है जो द्वन्दो मे विभक्त इस जागतिक चेतना की सीमाओ से ऊपर और बुद्धि से अतीत है वही परम मानवीय सत्य का आधार हो सकता है। देश, काल परिस्थितियो के अनुरूप बदलती हुई सापेक्ष नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओ की स्थापना का रहस्य भी वही है।

किन्तु 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो' वाले उपनिषदों के सत्य मे मन अधिक समय तक केन्द्रित नही रह सका। मेरा स्वभाव फिर मुझसे उलझने लगा और मेरे मन मे बार बार यह जिज्ञासा उठने लगी कि यह सापेक्ष सत्य, जिसे माया कहते हैं, जो देशकाल के अनुरूप नित्य परिवर्तित होता रहता है, वह किन नियमो के अधीन है और उसे कौन सी शक्तियाँ सचालित करती रहती हैं। मेरी इस जिज्ञासा की पूर्ति अनेक अशो तक मार्क्सवाद कर सका। हमारी समाजिक मान्यताओं का जगत क्यो और कैसे बदलता है और उसमे युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है इसका सतोषप्रद निरूपण, इसमे सदेह नहीं, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तर्कप्रणाली हमारा परिचय उन नियमो से कराती है जिनके बल पर मानवीय सत्य का छिलका अथवा सामाजिक जीवन का ढाँचा सगठित होता है। वह मानव जीवन सिन्धु के उद्वेलन आलोड़न का, सामाजिक

उत्थान पतन तथा सभ्यता के प्रगति विकास का इतिहास है। मानव जीवन के इस समतल सचरण के वृत्त को मैने अपनी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे वाणी देने का प्रयत्न किया है।

किंतु पुस्तको के अध्ययन के अतिरिक्त मानव जीवन के अध्ययन तथा मानव स्वभाव के सघर्ष की अनुभूतियो से मै जिन परिणामो मे पहुँचा हूँ उनसे मुझे प्रतीत होता है कि मानव विकास की वर्तमान स्थिति मे हमे मानव जीवन के सत्य को उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपो मे पहचानने के बदले उसे विश्वव्यापक सास्कृतिक स्वरूप मे पहचानने तथा अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, जिससे उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के अतर्विरोध नवीन जीवन सौन्दर्य की भावना मे समन्वित हो सकें। इस सास्कृतिक सौन्दर्य की भावना ही मे मै नवीन मनुष्यत्व एव मानवता की भावना को अतर्निहित पाता हूँ, जो धर्म और काम के बीच, व्यक्ति और विश्व के बीच, स्वभाव और नैतिक कर्तव्य के बीच, ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक सुनहली पुलकी तरह झूलती हुई मुझे दिखाई देती है, जिसमे मानव जाति की प्रगति तथा विकास अपने अतर सगीत की लय मे बँधे हुये युग युग तक अविराम चरण धरते एव आगे बढते हुए जीवन की असीमता तथा शाश्वतता का प्रमाण देकर ईश्वर की आनद लीला को सार्थक करते जाएँगे। एवमस्तु।

जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण

कूर्मांचल की सौन्दर्य पख तलहटी मे पैदा होने के कारण मुझे जीवन प्रकृति की गोद मे पेंग भरता हुआ मिला। सबसे पहिले मैने उसके मुख को सुदर के रूप मे पहचाना। किन्तु बचपन की चचलता भरी आँखों को जीवन का बाहरी समारोह जैसा मोहक तथा आकर्षक लगता है वास्तव मे उसका वैसा ही रूप नही है। एक सृजन प्राण साहित्यजीवी को वह जैसा प्रतीत होता है जन साधारण को वैसा नही लगता। साहित्य, सौन्दर्य तथा सस्कृति का उपासक स्वभावत. भावप्रवण, कोमल प्राण, स्वाधीन प्रकृति, तथा ससार की दृष्टि से असफल प्राणी होता है। उसके मन को नित्य नवीन स्वप्न लुभाते रहते हैं और उसकी सौन्दर्य भोग की प्रवृत्ति उसे कठोर वास्तविकता से पलायन करने की ओर उन्मुख करती रहती है। अपनी भावुकता तथा स्वभाव कोमल दुर्बलता के कारण उसे जीवन मे अधिक सघर्ष करना पड़ता है, और अपनी महत्वाकाक्षा के कारण बाहर के ससार के अतिरिक्त अपने अतर्जगत से भी निरतर जूझता रहना पड़ता है। किन्तु यह सब होने पर भी जीवनी शक्ति के प्रति उसके मन मे एक अगाध विश्वास तथा अमिट आशा का सचार होता रहता है, जो जन साधारण के मन मे कम पाया जाता है।

कुछ ऐसा ही स्वभाव लेकर मैने भी इस ससार मे पदार्पण किया। मेरी भीतर की दुनियॉ मेरे लिए इतनी सक्रिय तथा आकर्षक रही कि अपने बाहर के जगत के प्रति मै छुटपन से ही प्रायः उदासीन रहा। मैने अपने समय का अधिकाश भाग कमरे के भीतर ही बिताया है और खिड़कियो के चौखटो मे जड़ा हुआ जो पास पड़ोस का दृश्य मुझे देखने को मिलता रहा उसी से मै सतोष करता रहा हूँ। और अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखाई दी अथवा चिड़ियों का चहकना कानों मे पड़ गया तब मेरी कल्पना जैसे उसमें अपना गध मधु मिला कर मुझे किसी अपरूप स्वर्ग में उड़ा ले गई है

और मै बाहर के ससार के प्रति आँखें मूँद कर और भी अपने भीतर पैठ गया हूँ, जहाँ पहुँचने पर मेरा मन धीरे-धीरे जिस स्वप्न जगत का निर्माण करने लगता है उससे मेरे जीवन के समस्त अभावो की पूर्ति होती रहती है।

आप सोचेंगे कि मै कैसा निकम्मा और आलसी जीवन व्यतीत करता हूँ जो बाह्य जीवन के आर-पार व्यापी यथार्थ से अपने को वचित अथवा विरक्त कर अपनी चेतना को स्वप्नो के झूठे सम्मोहन मे लिपटाये हुए रूमानी वातावरण के नशे मे डूबा रहता हूँ। पर बात ठीक ऐसी नही है। वास्तव मे बाहर और भीतर की दुनियाँ दो अलग दुनियाँ नही है। केवल यथार्थ का मुख देखते रहने से ही जीवन के सत्य तक नही पहुँचा जा सकता, और जो स्वप्न है उसे केवल असत्य कह कर ही नही उडाया जा सकता। स्वप्न से मेरा क्या अभिप्राय है यह आप समझ रहे होगे। वह नीद मे पगी अलस पलको का खुमार नही बल्कि सतत जागरूक दृष्टि का नशा है। कोई यथार्थ से जूझ कर सत्य की उपलब्धि करता है और कोई स्वप्नो से लडकर। यथार्थ और स्वप्न दोनो ही मनुष्य की चेतना पर निर्मम आघात करते है, और दोनो ही जीवन की अनुभूति को गहन गभीर बनाते हैं। तो, मै स्वप्न का स्वर्ण कपाट खोलकर जीवन के मर्म की ओर बढा हूँ, जो स्थूल यथार्थ के लौह कपाट से कही निर्मम तथा कठोर होता है क्योंकि वह सूक्ष्म, मोहक तथा अर्ध प्रकट होता है।

ससारी लोग मुझ जैसे व्यक्तियो पर मन ही मन हँसते हैं क्योकि इतर-जन जीवन की जिन परिस्थितियो का सामना सहज रूप से बिना नाक भौंह सिकोड़े कर सकते हैं उनसे मै बार-बार क्षुब्ध तथा विचलित हो उठता हूँ। जीवन में सुख दुख, दैन्य सपदा, रोग व्याधि, तथा कुरूपता कठोरता उन्हे अत्यन्त स्वाभाविक तथा जीवन के अनिवार्य अग सी जान पड़ती हैं, और इन सब विरोधो या द्वन्द्वो को वे भाग्य की कभी न भरने वाली टोकरी मे डालकर सतोष ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। मेरी आँखो के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है। मेरा मन मानव जीवन का उद्देश्य जानना चाहता है वह उसकी तह तक पैठ कर उसे नये रूप मे सँजोना

चाहता है और ध्येय की खोज मे अनेक प्रकार के प्रश्नो, समस्याओ तथा कार्य कारण भावो की गुत्थियो मे उलझा रहता है। जीवन के यथार्थ को अपने विश्वासो के अनुकूल बनाने के बदले उसके सामने मूक भाव से मस्तक नवाने की नीति को वह किसी तरह अङ्गीकार नही करना चाहता। वह अपने व्यक्तिगत सुख दुख की भावनाओ मे आत्म सयम तथा साधना द्वारा सतुलन स्थापित कर सामाजिक यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने मे विश्वास करता है। इसीलिए यदि वह यथार्थ की तात्कालिक कुरूपता को उतना महत्व न देकर, उससे आँखें हटाकर, तथाकथित स्वप्न जगत मे उसके आदर्श रूप को निरूपित करने मे व्यग्र रहता है तो वह निष्क्रिय या आलसी जीवन नही व्यतीत करता।

स्वप्न द्रष्टा या निर्माता वही हो सकता है जिसकी अतर्दृष्टि यथार्थ के अतस्तल को भेदकर उसके पार पहुँच गई हो, जो उसे सत्य न समझ कर केवल एक परिवर्तनशील अथवा विकासशील स्थिति भर मानता हो। विचारकों ने जीवन का कुछ भौतिक बौद्धिक मान्यताओ तथा नैतिक आध्यात्मिक मूल्यो मे विश्लेषण सश्लेषण कर उसे सिद्धान्तो मे जकड़ दिया है। मनुष्य की चेतना उन जटिल, दुरूह मूल्याकनो को आर पार न भेद सकने के कारण उन्हीं की परिधि के भीतर घूम फिर कर, उनकी बालू की सी चकाचौध मे खो जाती है। किन्तु जीवन के मूल इन सब से परे हैं। वह अपने ही में पूर्ण है, क्योंकि वह सृजन-शील तथा विकासशील है। मनुष्य द्वारा अनुसंधानित समस्त नियम तथा मान्य-ताएँ उसके छोटे-मोटे अग तथा जीवन की अभिव्यक्ति के बनते मिटते हुए पदचिह्न भर हैं। वह आत्म सृजन के आनन्द तथा आवेश मे अपनी अभिव्यक्ति के नियमों को अतिक्रम कर अपनी साप्रत पूर्णता को निरन्तर और भी बड़ी पूर्णता मे परिणत करता रहता है।

हमारा युग जैसे लाठी लेकर आदर्श के पीछे पडा हुआ है। वह यथार्थ के ही रूप मे जीवन के मुख को पहचानना चाहता है, और उसी को गढ कर, बदल कर मनुष्य को उसके अनुरूप ढालना चाहता है। यह मनुष्य नियति का शायद सबसे बड़ा व्यग्य है और यह ऐसा ही है जैसे मैं अपनी प्रतिकृति को बदल कर अपने को बदलना चाहूँ अथवा अपनी वेशभूषा बदल लेने से अपने को भी

बदला हुआ समझ लूँ। आज का मनुष्य इसीलिये यथार्थ की समस्त कुरूपता से समझौता कर, उसे आत्मसात् कर, उससे उसी के स्तर पर जूझ रहा है। "ए टूथ फॉर ए टूथ" का प्राकृत आदिम सस्कार आज उसके लिये सर्वोपरि सत्य बन गया है, और दलदल मे फँसे हुए हाथी की तरह मानव अस्तित्व युग के कर्दम कल्मष मे लिपटता हुआ स्वय भी कुरूप तथा कुत्सित बनता जा रहा है।

यथार्थ का दर्पण जिस प्रकार जगत की बाह्य परिस्थितियाँ हैं उसी प्रकार आदर्श का दर्पण मनुष्य के भीतर का मन है। यदि वह उस पर केवल यथार्थ की ही छाया को घनीभूत होने देगा तो वह यथार्थ के भीषण बोझ से दबकर उसी की तरह कुरूप तथा बौना हो जाएगा। यदि वह आदर्श और यथार्थ को दो आमूल भिन्न, स्वतत्र तथा कभी न मिल सकने वाली इकाइयाँ मानेगा तो वह उनके निर्मम पाटो के बीच पिस जाएगा। यदि वह यथार्थ को आदर्श के अधीन रख कर उसे आदर्श के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करेगा तो वह यथार्थ पर विजयी होकर मानव जीवन के विकास मे सहायता पहुँचा सकेगा।

जिस प्रकार आज का युग आदर्श से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है। वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है। वह व्यक्ति को समाज की भारी भरकम निष्प्राण मशीन का कल पुरजा बना देना चाहता है। अतर्जीवी व्यक्ति की जो महान् सामाजिकता रूपी बाह्य देन है वह मनुष्य की आत्मा को उसके अधीन रख कर चलाना चाहता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल स्रोत की धारा को बन्द कर उसे उसी के प्रवाह से एकत्रित हुए तालाब के पानी मे डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की अस-गतियाँ आज के युग मे मेरे समान अंतर्मुख प्राणी को अधिकाधिक चिन्तनशील बनाती जाती हैं, जिसे मै युग का ऋण समझ कर चुकाने का प्रयत्न करता हूँ।

वैसे मै जीवनी शक्ति को अपने मे सपूर्ण मानता हूँ, जिसका प्रकाश भीतर है, छायाभास बाहर : जिसका केन्द्र मनुष्य के अतरतम मे है, बाह्य परिधि विशाल मानव समाज मे : जिसका सत्य अतर्मुखी है : प्रसार तथा नियमो मे बँधा तथ्य बहिर्मुखी। जो मन तथा आत्मा से परिचालित होने पर भी उनके अधीन नहीं हैं। मन तथा आत्मा की इकाइयाँ जीवन के सत्य से ऊँची हो सकती हैं,

किन्तु उससे अधिक समृद्ध तथा परिपूर्ण नही,—जीवन, जो भगवत् करुणा का वरदान स्वरूप, उनके आनन्द इगित से चालित, उनकी मनोहर लीला का विकासशील उपक्रम स्वरूप है। विकसित मनुष्य सृजनशील अतःस्थित प्राणी होता है, न कि तर्क बुद्धि मे अवसित बाह्य परिस्थिति जीवी व्यक्ति : वह जीवन की अखडनीय एकता से सयुक्त होता है, न कि उसके चचल वैचित्र्य मे खोया हुआ। वह द्रष्टा होता है, न कि कोरा विचारक और चिन्तक . वह इद्रियो के स्वामी की तरह प्रकृति का उपभोग करता है, न कि उनका दास बनकर प्रकृति के हाथ का खिलौना बना रहता है। विकसित मनुष्य, वह जीवनी शक्ति का प्रतिनिधि होता है जीवनी शक्ति .जो अततः सच्चिदानन्दमयी दिव्य प्रकृति है। एवमस्तु

भारतीय संस्कृति क्या है ?

आज हम एक ऐसे युग मे प्रवेश कर रहे है जब भिन्न-भिन्न देशो के लोग एक नवीन धरती के जीवन की कल्पना मे बॅधने जा रहे हैं। जब मनुष्य जाति अपने पिछले इतिहास की सीमाओ को अतिक्रम कर नवीन मनुष्यता के लिए एक विशाल प्राग्रण का निर्माण करने के प्रारभिक प्रयत्न कर रही है और जब विभिन्न सस्कृतियो के पुजारी परस्पर निकट सपर्क मे आकर एक दूसरे को नए ढग से पहचानने तथा आपस मे घुलमिल जाने के लिए व्याकुल हैं। ऐसे युग मे, जब कि मनुष्य के भीतर विराट् विश्व सस्कृति की भावना हिलोरे ले रही है, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की घोषणा करने वाली भारतीय सस्कृति के प्रश्न पर विचार विवेचन करना असामयिक तथा अप्रासगिक नही होगा, क्योकि भारतीय सस्कृति के भीतर वास्तव मे विश्व सस्कृति के गहन मूल्य तथा व्यापक उपादान यथोचित रूप से वर्तमान हैं।

भारतीय सस्कृति के सम्बध मे आज हमारे नव शिक्षितो के मन मे अनेक प्रकार की भ्रातियाँ फैली हुई हैं और विचारशील लोग भी अनेक कारणों से भारतीय सस्कृति का उचित मूल्याकन करने की ओर विशेष अभिरुचि तथा आग्रह प्रकट करते नहीं दिखाई देते हैं। इसके मुख्य कारण यही हो सकते हैं कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हमारी सस्कृति के ढॉचे मे अनेक प्रकार की दुर्बलताए, असुदरताए तथा विचार सम्बधी क्षीणताए आ गई हैं और मध्य युगों से हम प्रायः लौकिक जीवन के प्रति विरक्त, परलोक के प्रति अनुरक्त, अध विश्वासो के उपासक तथा रूढि रीतियो के दास बन गए हैं। मध्य युग भारतीय सस्कृति के ह्रास का युग रहा है जिसके प्रमुख लक्षण हमारी आत्म पराजय, सामाजिक असगठन तथा हमारे मानसिक विकास का अवरोध रहे हैं। इसके अतिरिक्त हमारे विचारको तथा विवेचकों का मस्तिष्क पाश्चात्य विचार धारा से इतना अधिक प्रभावित तथा आक्रात रहा है कि उन्होने भारतीय सस्कृति के प्रति

पश्चिम के समीक्षकों के छिछले तथा भ्रातिपूर्ण दृष्टिकोण को अक्षरशः सत्य मान लिया है, जिससे अपनी सस्कृति के प्रति उनकी भावना आहत तथा विवेक कुठित हो गया है। फलतः आज हमारा नव शिक्षित समुदाय भारतीय सस्कृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा है और पश्चिमी विचारो तथा रहन-सहन का थोथा अनुकरण कर अति आधुनिकता के हँसमुख अवकार से भरे हुए गहरे गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

ऐसा क्यो हो गया है, पश्चिमी विचारधारा की क्या विशेषताए हैं और उसके आकर्षण के क्या कारण हैं, पहिले हम इस पर विचार करेंगे।

पश्चिमी विचारधारा की मुख्य दो विशेषताए हैं जिनके कारण वह युग-युग से पराधीन तथा जीवन विमुख भारतीय शिक्षित समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सकी है। उसकी पहिली विशेषता है उसका जीवन सम्बधी दृष्टिकोण। पश्चिमी विचारधारा जीवन के प्रति अपने मोह को कभी नही भुला सकी है। उसने जीवन की कल्पना को मानव हृदय के समस्त रस से सीच कर तथा रगीन भावनाओ मे लपेट कर उसे मन की आँखो के लिए सदैव मोहक बना कर रखा है। जीवन के क्षेत्र का त्याग कर या उससे ऊपर उठकर मन की अतरतम गुहा मे प्रवेश करना अथवा आत्मा के सूक्ष्म रुपहले आकाश मे उड़ना उसने कभी अगीकार नहीं किया है। और भारतीय विचारधारा के प्रति उसके विरोध का एक यह भी मुख्य कारण रहा है कि उसने मात्र जीवन के सतरंगी कुहासे को उतना अधिक महत्व नहीं दिया है, बल्कि, उसे माया कह कर एक प्रकार से उसकी ओर निरुत्साह ही प्रकट किया है।

दूसरी विशेषता पश्चिमी विचारधारा की यह रही है कि उसने तर्क बुद्धि के मूल्याकन को आँखो से कभी ओझल नहीं होने दिया है। उसने तर्क बुद्धि की सफलता को उसकी सामाजिक तथा लौकिक उपयोगिता मे माना है और उसका प्रयोग ऐहिक, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुख की अभिवृद्धि के लिए किया है। पश्चिमी सस्कृति तर्क बुद्धि से इतनी अधिक प्रभावित रही है कि उसने धीरे-धीरे धर्म को भी उसके सूक्ष्म रहस्यमय तत्त्वों से विमुक्त कर उसे अधिकाधिक लौकिक तथा उपयोगी बनाने की चेष्टा की है और धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रती-

कात्मक रूढि रीतियो को केवल अधविश्वास कह कर, धर्म को कुछ लौकिक तथा जीवनोपयोगी नैतिक नियमो के सयोजन मे सीमित कर दिया है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियो को छोडकर जन साधारण के लिए पश्चिम मे धर्मानुराग का अर्थ केवल व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी नैतिकता ही से रहा है। और भारतीय सस्कृति के प्रति पश्चिम के विचारको का एक यह भी आक्षेप रहा है कि उसमे नैतिकता सदाचार अथवा पाप पुण्य की भावना पर उतना जोर नही दिया जाता है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी विचारको ने भारतीय सस्कृति पर केवल ऊपर ही ऊपर सोच विचार किया है। और इसमे सदेह नही कि भारतीय सस्कृति सदैव से उच्च से उच्चतम नैतिकता, सदाचार, आदर्शों तथा उदात्त व्यक्तित्वों की पोषक रही है। किंतु वह नैतिकता तक ही कभी सीमित नही रही है, मन के आध्यात्मिक आरोहण के लिए नैतिकता एक आवश्यक उच्च सोपान मात्र रही हैं। पश्चिमी सस्कृति आध्यात्मिकता को आध्यात्मिकता के लिए कभी पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर सकी। जीवन के क्षेत्र मे दृढ चरण रखे हुए वह आध्यात्मिक स्फुरणो के सौन्दर्य, माधुर्य तथा आनद की केवल प्रशसक मात्र रही है और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपयोग उसने जीवन का भार वहन करने भर को किया है।

भारतीय सस्कृति का मूल मत्र आध्यात्मिकता रहा है और आध्यात्मिकता भी केवल आध्यात्मिकता के लिए। न धन न जन न च कामिनी के लिए, जो कि ऐहिक जीवन के अत्यत आवश्यक उपादान हैं। किंतु इस प्रकार की आध्यात्मिकता का हम क्या अभिप्राय समझे? इससे हमे यही समझना चाहिए कि भारतीय सस्कृति ने मनुष्य के अस्तित्व का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है। उसने उसके मर्त्य तथा जीव रूप को ही सन्मुख रख कर उसके लिए जीवन धर्म की व्यवस्था नही बनाई है बल्कि उसने उसके शाश्वत अमर्त्य रूप की अभिव्यक्ति तथा विकास के लिए भी पथ निर्देश किया है। जो लोग भारतीय दृष्टिकोण के सबध में केवल बाहरी ज्ञान रखते हैं उन्हे उसमे केवल अनेक सप्रदाय, मत, रूढि रीति, तप और साधना के नियम, योग, दर्शन आदि ऐसी अध विश्वास पूर्ण पुराणपथी वस्तुए मिलती हैं कि वे उनको ऐहिक तथा लौकिक जीवन सबधी उपयोगिता को यकायक समझ नही पाते हैं। हम प्रायः एक जन्म मे एक पीढी के, अथवा

अधिक से अधिक तीन पीढ़ियो के जीवन को देख पाते है और वह जीवन वृत्त जिन मान्यताओ, दृष्टिकोणो, अभिरुचियो तथा परिस्थितियो को लेकर चलता है उन्ही को सत्य मान लेते है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन तत्व सदैव विकासशील रहा है और व्यक्ति के जीवन की स्थिति केवल बाह्य जीवन ही मे नही उससे भी ऊपर अथवा परे शाश्वत परात्पर सत्य मे मानी गई है। इस शाश्वत जीवन के लिए भारतीय सस्कृति ने अतर्मुखी पथ निर्धारित किया है। मनुष्य का पूर्ण विकास एक सुख सपन्न पूर्ण सामाजिकता ही मे नही बल्कि मुक्त शात आनदमय अमरत्व की स्थिति प्राप्त करने मे माना गया है और ऐसे व्यक्तियो ने जो इस स्थिति को प्राप्त कर सके हैं मानव समाज के समतल सत्य मे भी बराबर नवीन मौलिक तथा उच्च गुणो का समावेश किया है। भारतीय सस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है वहाँ उसके लोकोत्तर व्यक्तित्व की रूप रेखाए ईश्वरत्व मे मिल जाती हैं। किंतु यह कहना मिथ्या आरोप होगा कि भारतीय सस्कृति केवल व्यक्तिवादी ही रही है। उसने सामाजिक तथा लौकिक जीवन के महत्व को भी उसी प्रकार समझने की चेष्टा की है। और भिन्न भिन्न युगो की परिस्थितियो के आधार पर उसने अत्यत उर्वर तथा उन्नत सामाजिक जीवन के आदर्श सामने रखे है और उन्ही के अनुरूप लोक जीवन का निर्माण करने मे भी वह अत्यत सफल रही है। धर्म अर्थ काम सभी दिशाओ मे उसका विकास तथा विस्तार अन्य सस्कृतियो की तुलना में अतुलनीय रहा है। उसके वर्णाश्रम को मौलिक व्यवस्था भी जीवन का सभी स्थितियो को सामने रखकर बनाई गई थी, अब भले ही अपने ह्रासयुग मे उसका स्वरूप विकृत हो गया हो।

किंतु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि बाह्य जीवन की खोज तथा विजय में पश्चिमी प्रतिभा की विश्व सभ्यता को सबसे बड़ी देन रही है। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य मुख्यतः अतर्जगत की खोज तथा उपलब्धि रही है और निःसदेह भारतवर्ष अतर्जगत का सर्व श्रेष्ठ तथा सिद्ध वैज्ञानिक रहा है।

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं जब कि पूर्व और पश्चिम एक दूसरे की ओर बाँहें बढाकर एक नवीन मानवता के वृत्त में बँधने जा रहे हैं। आज की जीवन चेतना को पूर्व और पश्चिम मे, ज्ञान और विज्ञान में, या

आध्यात्मिकता और भौतिकता मे बॉटकर कुठित करना भविष्य की ओर ऑखें बद कर चलने के समान है। और इसी प्रकार भारतीय सस्कृति या पश्चिमी सस्कृति की दृष्टि से आज की मानवता के मुख को पहचानना, उसके लिए अन्याय करना है।

मनुष्य का भूत और वर्तमान ही उसे समझने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। भावी आदर्श पर बिम्बित उसका चेहरा इन सबसे अधिक यथार्थ और इसी लिए अधिक सुदर तथा उत्साह जनक है।

यदि पिछले युगो मे, और आज भी, पश्चिम की सभ्यता तथा सस्कृति अधिक जीवन सक्रिय, क्षुब्ध, तथा सघर्ष प्रिय रही है और भारतवर्ष की सस्कृति अधिक अतश्चेतन, प्रशात, अहिंसात्मक तथा बाहर से अल्प क्रियाशील अथवा जीवन अक्षम, अगर पश्चिम की सस्कृति बहिर्जड़ प्रकृति पर और पूर्व की अतः प्रकृति पर विजयी हुई है, अगर पश्चिम की सस्कृति ने बाह्य का, वस्तु का, विविध का या वैचित्र का और भारतीय सस्कृति ने अतस् का, एकता का, केवल का या परम का अधिक अध्ययन मनन तथा चितन किया है तो आने वाली विश्व सभ्यता और मानव सस्कृति अपने निर्माण मे इन दोनों का उपयोग कर अधिक सुदर स्वस्थ सपन्न तथा भावी मानवता की एकता मे नवीन विविधता और उसके पिछले संस्कारों की विविधता मे नवीन एकता के दर्शन कर एक ऐसे व्यापक संस्कृति के वृत्त मे प्रवेश कर सकेगी जो भारतीय भी होगा और पश्चिमी भी, और इन दोनो को आत्मसात् और अतिक्रम कर इनसे कहीं अधिक महत्, मोहक, मानवीय तथा अपनी पूर्णकाम लौकिकता मे अलौकिक भी।

भाषा और संस्कृति

आजकल जो अनेक समस्याए हमारे देश के सामने उपस्थित हे उनमे भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओ मे किसी न किसी रूप मे इसकी चर्चा होती रहती है और इस सबध मे अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादपूर्ण पहलू लोगो के सामने आ गए है और उन पर यथेष्ट प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमे अत्यत धीरज, साहस तथा सद्भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के सगठन के लिए एक अत्यत सबल साधनो मे से हे। विश्व-मानवता का मानसिक सगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। भाषा हमारे मन का परिधान या लिवास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारो आदर्शों, सत्य मिथ्या के मानो तथा अपनी भावनाओ एव अनुभूतियो को सरलता पूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन मे वाहित करते हैं। भाषा, सस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज सत्य नही, एक सगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वरूप सगठित नहीं होता तो हम जो कुछ शब्द ध्वनियो या लिपि-सकेतो द्वारा कहते हैं, और अपनी चेतना के जिन सूक्ष्म भावों का अथवा मन के जिन गुणो का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते हैं वह सब सभव तथा सार्थक नहीं होता।

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने युग तथा देश की परिस्थितियो पर विचार करते हैं तो हमे यह समझने मे देर नही लगती कि अपने देश की जनता मे उसके विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायो मे एकता स्थापित करने के लिए तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, संयुक्त एवं संगठित बनाने के लिए हमे एक भाषा के माध्यम की नितात आवश्यकता है, जिसका महत्व किसी भी दूसरे तर्क या विवाद से घटाया नही जा सकता। यह ठीक है कि हमारी सभी प्रातीय भाषाए यथेष्ट उन्नत हैं, उनका साहित्य पर्याप्त विकसित है और वे अपने प्रातों के राज काज को सॅभाल सकती हैं। किंतु राष्ट्रभाषा के प्रचार तथा अभ्युदय से

प्रांतीय भाषाओं के विकास में किसी प्रकार की क्षति या बाधा पहुँच सकती है इस प्रकार का तर्क समझ में नहीं आता। वास्तव में राष्ट्रभाषा या एक भाषा का प्रश्न अगली पीढ़ियों का प्रश्न है। आज की पीढ़ी के हृदय में मध्ययुगों की इतनी विकृतियाँ और संकीर्णताएँ अभी अवशेष हैं कि हम छोटे-मोटे गिरोहों, संप्रदायों, वादों और मतों में बँटने की अपनी ह्रास युग की प्रवृत्तियों को छोड़ ही नहीं सकते। विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण तथा पराजित हो गई है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते और अपने स्वार्थों से बाहर, एक सबल संतुलित राष्ट्रीय संगठन के महत्व की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अगली पीढ़ियाँ अपनी नवीन परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय आदर्शों के गौरव के प्रति अधिक जाग्रत् और प्रबुद्ध हो सकेंगी, इसमें संदेह नहीं। उनके हृदयों में अधिक स्फूर्ति होगी, रक्त में नवीन जीवन, तथा प्राणों में अदम्य उत्साह एवं शक्ति। वे अपनी प्रांतीय भाषा के साथ राष्ट्रभाषा के वातावरण में भी बढ़ेंगी और उसे भी आसानी से सीख लेंगी।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की तरह रट कर साक्षर तथा शिक्षित होने का अभिमान ढोते आये हैं। तब प्रांतीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था। आज जब राजकाज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रांतीय भाषा-भाषियों का विरोध हठधर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक सांप्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-सम्बन्धी सांप्रदायिकता के दलदल में डूबने जा रहे हैं।

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रांतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएं तो विशेष रूप से संस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि सौन्दर्य तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी हठधर्मी से लड़ सकें तो मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों हम आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार कर उसे वास्तविकता में परिणत न कर सकें। अन्य प्रांतीय भाषाओं की तुलना में राशि (जनसंख्या) तथा गुण (सरलता, सुबोधता, उच्चारण सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का

स्थान विशेष महत्वपूर्ण तथा प्रमुख है ।

हिन्दी उर्दू का प्रश्न प्रादेशिक भाषाओं के प्रश्न से कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है । एक तो दोनो की जनक-भाषाए आमूल भिन्न हें । हिन्दी सस्कृत की सतान है, उर्दू फारसी और अरबी की । फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायो मे विभक्त हैं, हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोणो मे भी सामजस्य स्थापित नही हो पाया है । फलत. हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न सस्कृतियो की चेतनाओ तथा उपादानो की वाहक मानने लगे है । पर यह पुरानी दुनियाँ का इतिहास है । ससार मे आज सभी जातियो वर्गो, समूहो या सम्प्रदायो मे धार्मिक, नैतिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियो का सघर्ष देखने को मिलता है जो आगे चल कर आनेवाली दुनिया मे अधिक व्यापक सामजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ले आएगा । भिन्न-भिन्न समूहो की अतश्चेतना के सगठनो मे साम्य, सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जाएगी । इसे अनिवार्य तथा अवश्यभावी समझना चाहिए ।

हमे हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आप उत्तर प्रदेश की भाषा कह लें—दो रूप मानने चाहिये । दोनो एक ही जगह फूली-फली हैं । दोनों के व्याकरण मे, वाक्यों के गठन, संतुलन तथा प्रवाह आदि मे पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य मे विभिन्नता भी है ! साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक ही भाषा की दो चोटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने निखार मे सस्कृत प्रधान हो गई हैं, दूसरी फारसी-अरबी प्रधान । और उनका बीच का बोलचाल का स्तर ऐसा है जिसमें दोनो भाषाओं का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है । हिन्दी उर्दू के एक होने में बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारे धार्मिक, साम्प्रदायिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमे विच्छिन्न कर रही हैं । भविष्य मे हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सास्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत हद तक इन विरोधों को मिटाकर दोनो सम्प्रदायों को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व मे बाँध देंगी । भीतरी कारण नहीं रहेंगे अथवा पगु हो जाएँगे ।

इस समय हमारा चेतन मानव-प्रयास इस दिशा मे केवल इतना ही हो सकता है कि हम दोनो भाषाओ को मिलाने के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सके। वह आधार इस समय स्थूल ही आधार हो सकता है—और वह है नागरी लिपि। सरकार को हिंदी-उर्दू भाषियो के लिए, राज-काज मे, एक ही लिपि को स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-केन्द्रो की भी होनी चाहिए। हमे इस समय भाषा के प्रश्न को बलपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नही करना चाहिए। केवल लिपि के आधार पर जोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नही कि नागरी लिपि उर्दू से ही नही ससार की सभी लिपियो से शायद अधिक सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और उसमे समयानुकूल छोटे-मोटे परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का सूक्ष्म जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने आप कर सकेगा। उसमे आने वाली पीढियाँ अपने जीवन के रक्त से, अपनी प्रीति के आनद से तथा स्वप्नों के सौंदर्य से सामजस्य प्रदान कर सकेगी। वह मेल अधिक स्वाभाविक नियमों से सचालित होगा। आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में दोनो को मिलाने का कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न कर रहे हैं। यह हमें कही नही ले जाएगा। क्योकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्हीं आतरिक नियमों के आधार पर ही सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी प्रयत्नो से हम भाषा का व्यक्तित्त्व, उसका सौष्ठव तथा सौंदर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देंगे। भारतवर्ष के अन्य प्रातो की भाषाओ के जीवन को सामने रखते हुए मै सोचता हूँ हिंदी-उर्दू का मेल सस्कृत के ध्वनि-सौदर्य, रुचि-सौष्ठव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा, जिसमे आधिकाधिक मात्रा मे बोलचाल के लोक प्रचलित तद्भव शब्दो का समावेश किया जा सकता है। किंतु सचेष्ट प्रयत्नो के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आनेवाली पीढियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को किस प्रकार सँवारेंगी यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं बतलाया जा सकता।

सांस्कृतिक आंदोलन

आज का विषय है ' सास्कृतिक आन्दोलन,—क्यों, कैसा—इससे हमारा अभिप्राय है, क्या हमे एक सास्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है ? इस युग मे जिस प्रकार राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलन लोक-जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति कर रहे है क्या हमे उसी तरह एक सास्कृतिक आन्दोलन भी चाहिए, जो हमारे युग की समस्याओ का समाधान करने मे सहायक हो ? और अगर चाहिए तो उसके आधार क्या हो, उसे किन मान्यताओ को अपनाकर चलना चाहिए ?

शायद 'आन्दोलन' शब्द हमारे अभिप्राय को प्रकट करने के लिए अधिक उपयुक्त नही। वह आज के सघर्षपूर्ण वातावरण मे अधिक आन्दोलित लगता है। हमे कहना चाहिए शायद 'सचरण'—सास्कृतिक सचरण, जिससे सृजन और निर्माण कि ध्वनि अधिक स्पष्ट होकर निकलती है।—बाहरी दृष्टि से देखने मे उपर्युक्त विषय—सास्कृतिक आन्दोलन,—क्यो, कैसा ?—ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग यहाँ किसी प्रकार का बौद्धिक व्यायाम करने के लिए अथवा तार्किक दॉव-पेंच दिखाने के लिए एकत्र हुए हैं। पर ऐसा नहीं है। मेरा विनम्र विचार है कि हमे सस्कृति जैसी महत्वपूर्ण वस्तु को, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तरतम विश्वासो, श्रद्धाओं, आदर्शों. तथा सत्य शिव और सुन्दर के सिद्धान्तो से है—केवल मन या बुद्धि के धरातल पर ही नही परखना चाहिए। उसका सम्बन्ध मनुष्य की अन्तर्चेतना से, उसकी गम्भीरतम अनुभूतियों, उसके अन्तर्मन के सहजबोध तथा रहस्य प्रेरणाओं से भी है। हम मनुष्य के मन और बुद्धि की सीमाओं से अच्छी तरह परिचित हैं। सस्कृति क्या है, इस पर एक महान ग्रथ ही लिखा जा सकता है और फिर भी उसके साथ यथेष्ट न्याय नहीं हो सकता। अभी मै अन्तर्चेतना, अन्तर्विश्वास और सहजबोध के बारे में जो कह चुका हूँ उनके अस्तित्व के बारे मे भी कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

सस्कृति के आधारो तथा मान्यताओ की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही लगती है। बुद्धि का प्रकाश तो किसी हद तक सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर डाला जा सकता है, पर हमे बुद्धि के निर्णय को आखिरी हद या अन्तिम सीमा नही मान लेनी चाहिए। उससे भी प्रबल और पूर्ण साधन मनुष्य के भीतर ज्ञान प्राप्ति अथवा सत्य बोध के लिए बतलाए जाते है।

मेरे विचार मे किसी भी सास्कृतिक आन्दोलन या सास्कृतिक सस्था का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्ति को उसकी बुद्धि के ऊपर स्थान दे और उसे मानव हृदय मे जाग्रत कर उसके विकास के लिए उपयुक्त साधन और वातावरण प्रस्तुत करे। जहाँ मनुष्य स्वय स्रष्टा बन जाता है वहाँ उसका अन्तरतम चेतन व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है—उसे सौन्दर्य, आनन्द और तृप्ति का अनुभव होने लगता है। जीवन का अन्धकार और मन का कुहासा छिन्न-भिन्न होने लगता है। वह जीवन और उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसका अपने अनुकूल तथा समाज और युग के अनुरूप निर्माण एव सृजन करने लगता है। वह प्रकृति और स्वभाव का अग ही न रह कर उनका द्रष्टा और स्रष्टा भी बन जाता है।

मनुष्य के श्रद्धा, विश्वास तथा भीतरी आस्थाओ के समर्थन मे मै इन थोड़े से शब्दो में सकेत भर कर रहा हूँ। वैसे हमारा युग विज्ञान का युग कहलाता है—जिसका अर्थ है भूत विज्ञान का युग। विज्ञान शब्द मनोविज्ञान, अन्तर्विज्ञान, आत्मविज्ञान आदि जैसे सूक्ष्म दर्शन विषयो के लिए भी प्रयुक्त होता है, लेकिन इस युग मे हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते है—अधिक प्रकाश डाला है। भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक रासायनिक शक्तिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन की भौतिक एव आधुनिक अर्थ मे सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गई हैं। जीवन की इन सबल बाह्य गतियों का नए ढग से सगठन करने के लिए आज ससार मे नवीन रूप सें राजनीतिक आर्थिक आन्दोलनो का प्रादुर्भाव, लोकशक्तियों का सघर्ष, तथा महायुद्धो का हाहाकार बढ रहा है। ये राजनीतिक आर्थिक आन्दोलन

हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलतः आज हमारा पदार्थ जीवन भौगोलिक दृष्टि से, मुख्यत तीन विभागो मे विभक्त हो गया है। एक ओर पूजीवादी राष्ट्र हैं, दूसरी ओर साम्यवादी रूस, तथा तीसरी ओर हिन्दुस्तान जैसे अन्य छोटे बड़े देश जिनका निर्माणकाल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नहीं हुआ है और जो उपर्युक्त दोनो सशक्त सगठनो के भले बुरे परिणामो से प्रभावित तथा सन्त्रस्त है। हमे तीसरे विश्वयुद्ध की अस्पष्ट गर्जन अभी से सुनाई देने लगी है जो सम्भवतः अणु-युद्ध होगा।

ऐसी अवस्था मे हम अनुभव करते हैं कि मानव जाति को इस महा विनाश से बचाने के लिए हमे आज मनुष्य चेतना के ऊर्ध्व स्तरो को भी जाग्रत तथा सक्रिय बनाना है, जिससे आज की विश्व परिस्थियों मे सतुलन पैदा किया जा सके, और लोक-जीवन के इस बहिर्गत प्रवाह के लिए एक अन्तर्मुख स्रोत भी खोलना है जिससे जीवन की मान्यताओं के प्रति उसका दृष्टिकोण और व्यापक बन सके। आधुनिक भौतिकवाद मुझे, मध्ययुगीय भारतीय दार्शनिकों के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकागी तथा अधूरा लगता है। मानव जीवन के सत्य को अखडनीय ही मानना पड़ेगा, उसके टुकडे नहीं किए जा सकते। मै सोचता हूँ मनुष्य की चेतना सत्ता, मन और पदार्थ के स्तरो मे नवीन विश्व परिस्थितियों के अनुरूप समन्वय एवं सतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से जो भी प्रयत्न सम्भव हों उन्हें हमे नवीन सांस्कृतिक सचरण के रूप मे ही अग्रसर करना होगा। क्योकि सस्कृति का संचरण न राजनीति की तरह समतल सचरण हैं न धर्म और अध्यात्म की तरह उर्ध्व सचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पंथ है और मानव जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों गतियों, प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का उसमे समावेश रहता है। मनुष्य की सृजनात्मिका वृत्ति को उसमें अधिक सम्पूर्ण प्रसार मिलता है।

ऐसे आन्दोलन द्वारा हम पिछले धर्मों, आदर्शों, और संस्कृतियों में अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित मानव चेतना के अन्तर-सौंदर्य को अधिक परिपूर्ण रूप से प्रस्फुटित कर सकेंगे, और उसे जाति श्रेणी सम्प्रदायों से मुक्त एक नवीन

मानवता मे ढाल सकेंगे। जहाँ तक मान्यताओ का प्रश्न है मेरी समझ में मानवीय एकता ही हमारे जीवन-मानो की आधार बननी चाहिए। जो आदर्श अथवा विचार-धाराएँ मनुष्य की एकता के विरोधी हों या उसके पक्ष मे बाधक हो उनका हमे परित्याग करना चाहिए, और जो उसकी सिद्धि मे सहायक हो उनका पोषण करना चाहिए। मानव एकता के सत्य को हम मनुष्य के भीतर से ही प्रतिष्ठित कर सकते हैं, क्योंकि एकता का सिद्धात अन्तर्जीवन या अन्तर्चेतना का सत्य है। मनुष्य के स्वभाव, मन और बहिर्जीवन मे सदैव ही विभिन्नता का वैचित्र्य रहेगा। इस प्रकार हम भिन्न जातियो और देशो की विशेषताओ की रक्षा करते हुए भी मनुष्य को एक आन्तरिक एकता के स्वर्णपाश मे बाँध सकेंगे। आज के विरोधों से रहित एक अन्तःसगठित मनुष्यता का निर्माण कर सकेंगे जिसके चेतना, मन और प्राणो के स्तरो मे अधिक सम्पूर्ण सतुलन होगा। जो अन्तर्जीवन की अभीप्साओ और बहिर्जीवन के उपभोग मे एकात समन्वय स्थापित कर सकेगी और जिसका दृष्टिकोण जीवन की मान्यताओ के प्रति अधिक ऊर्ध्व, व्यापक तथा गम्भीर हो जाएगा।

सांस्कृतिक चेतना

(अभिभाषण का अश)

आज जब साहित्य, सस्कृति तथा कला की अन्तःशुभ्र सूक्ष्म पुकारें बाह्य जीवन के आडम्बर तथा राजनीतिक जीवन के कोलाहल मे प्रायः डूब-सी रही हैं, आप लोगो का इस सास्कृतिक समारोह मे सम्मिलित होना विशेष महत्त्व रखता है। इससे हमे जो आशा, उत्साह, जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है, वह शब्दो मे व्यक्त नही की जा सकती। आप का अमूल्य सहयोग मनुष्य की उस अन्तर्जीवन की आकाक्षा का द्योतक है, जिसके अभाव मे आज के युग की बाहरी सफलता अपने ही खोखलेपन मे अधूरी तथा असम्पूर्ण रह गई है।

किसी भी देश का साहित्य उसकी अन्तश्चेतना के सूक्ष्म सगठन का द्योतक है : वह अन्तःसगठन जीवन-मान्यताओ, नैतिक शील, सौन्दर्य-बोध, रुचि, सस्कार आदि के आदर्शो पर आधारित होता है। आज के सक्राति काल मे जब कि एक विश्वव्यापी परिवर्तन तथा केन्द्रीय विकास की भावना मानव-चेतना को चारो ओर से आक्रात कर उसमे गम्भीर उथल-पुथल मचा रही है, किसी भी साहित्यिक अथवा सास्कृतिक सस्था का जीवन कितना अधिक कटकाकीर्ण तथा कष्टसाध्य हो सकता है, इसका अनुमान आप-जैसे सहृदय मनीषी एव विद्वान सहज ही लगा सकते हैं। इन आधिभौतिक, आधिदैविक कठिनाइयों को सामने रखते हुए मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि यह सास्कृतिक आयोजन आज के युग की उन विराट् स्वप्न-सभावनाओ के स्वल्प समारंभों मे से एक है, जो आज पिछली सध्याओं के पलनो मे झूलती हुई अनेक दिशाओ मे, अनेक प्रभातों की नवीन सुनहली परछाँइयों मे जन्म ग्रहण करने का तुच्छ प्रयास कर रही हैं। ऐसे समय हम अपने गुरुजनों का आशीर्वाद तथा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। अपने समवयस्को तथा सहयोगियों से स्नेह और सद्भाव चाहते हैं, जिससे हम अपने महान् युग के साथ पैंग भरते हुए आने वाले क्षितिजो के प्रकाश को छू सकें। आप जैसे विद्वद्जनों के साथ हमे विचार-विनिमय तथा साहित्यिक आदान-प्रदान करने का अपूर्व सयोग मिल सके, यही हमारे इस अनुष्ठान का उद्देश्य, इस साहित्यिक पर्व का अभिप्राय है। जिसमे

हम अपने समवेत हृदय-स्पन्दन मे पिछले युगों की चेतना को थपकी देते हुए और अपनी सास्कृतिक शिराओ मे नवीन युग की गत्यात्मकता को प्रवाहित करते हुए, अपने सम्मिलित व्यक्तित्व मे पिछले आदर्शों का वैभव तथा नवीन जागरण के आलोक को मूर्तिमान करने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

आज के साहित्यिक अथवा कलाकार की बाधाएँ व्यक्तिगत से भी अधिक उसके युग पथ की बाधाएँ हैं। आज मानव-जीवन बहिरतर की अव्यवस्था तथा विशृंखलता से पीडित है। हमारा युग केवल राजनीतिक आर्थिक क्राति का ही युग नहीं, वह मानसिक तथा आध्यात्मिक विप्लव का भी युग है। जीवन-मूल्यों तथा सास्कृतिक मान्यताओ के प्रति ऐसा घोर अविश्वास तथा उपेक्षा का भाव पहिले शायद ही किसी युग मे देखा गया हो। वैसे सभ्यता के इतिहास मे समय-समय पर अनेक प्रकार के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तन आए हैं, किन्तु, वे एक दूसरे से इस प्रकार सबद्ध होकर शायद ही कभी आए हों। आज के युग की राजनीतिक तथा सास्कृतिक चेतनाएँ धूप-छाँह की तरह जैसे एक दूसरे से उलझ गई हैं। मानव-चेतना की केन्द्रीय धारणाओ तथा मौलिक विश्वासो मे शायद ही कभी ऐसी उथल-पुथल मची हो। आज विश्व-सत्ता की समस्त भीतरी शक्तियाँ तथा बाहरी उपादान परस्पर विरोधी शिविरो मे विभक्त होकर लोक-जीवन के क्षेत्र मे घोर अशान्ति तथा मानवीय मान्यताओं के क्षेत्र मे विकट अराजकता फैला रहे हैं। आज अध्यात्म के विरुद्ध भौतिकवाद, ऊर्ध्वचेतन अति-चेतन के विरुद्ध उपचेतन अवचेतन, दर्शन के विरुद्ध विज्ञान, व्यक्तिवाद के विरुद्ध समूहवाद एव जनतत्र के विरुद्ध पूँजीवाद खड़े होकर मानवजीवन में एक अधिविश्व-क्राति तथा अतर्गत असगति का आभास दे रहे हैं। मनुष्य का ध्यान स्वत' ही एक व्यापक अन्तर्मुख विकास तथा बहिर्मुख समन्वय की ओर आकृष्ट हो रहा है। आज अनुष्य की चेतना नए स्वर्गों, नए पातालो तथा नई ऊँचाइयों नई गहराइयों को जन्म दे रही है। पिछले स्वर्ग नरक, पिछली पाप-पुण्य तथा सद्-असद् की धारणाएँ एक दूसरे से टकराकर विकीर्ण हो रही है। आज मनुष्य की अहता का विधान अपने ज्योति-तमस् के ताने-बाने सुलझाकर विकसित रूप धारण कर रहा है। मानव कल्पना नवीन चेतना के सौन्दर्य-बोध को ग्रहण करने

की चेष्टा कर रही है। ऐसे महान् युग मे जब एक नवीन सास्कृतिक सचरण-वृत्त का उदय हो रहा है, जब आध्यात्मिकता तथा भौतिकता मानव चेतना मे नया सामजस्य खोज रही हैं, जब आदि ज्योति एव आदिम अन्धकार, जो अभी जीवन मान्यताओ मे नहीं बँध सके हैं, मनुष्य के अन्तर्जगत् मे आँख-मिचौनी खेल कर नवीन मूल्यो को अकित कर रहे है, जब चेतना की नवीन चोटियो की ऊँचाइयाँ जीवन को नवीनतम अतल खाइयो मे सतुलन भरने की चेष्टा कर रही हैं—ऐसे युग मे सामान्य बुद्धिजीवी तथा सृजनप्राण साहित्यिक के लिए बहिरतर की इन जटिल गुत्थियो को सुलझाकर नवीन भावभूमि मे पदार्पण करना अत्यन्त दुर्बोध तथा दु साध्य प्रतीत हो रहा है। इसीलिए आज यदि कोई स्वप्न-स्रष्टा चेतना के ऊर्ध्वमुख रुपहले आकाशों के नीरव प्रसारो मे खो गया है तो कोई जीवन के बाह्यतम प्रभावो के सौन्दर्य मे उलझकर कला की सतरगी उड़ानों मे फँस गया है।

किन्तु, हम इस प्रकार के वाद-विवादों, अतिवादों तथा कट्टरपथी सकीर्णताओं के दुष्परिणामों से मुक्त रहकर सहज बोध तथा सहज भावना का पथ पकड़ना चाहते हैं जो व्यापक समन्वय का पथ है। ऐसा समन्वय जो कोरा बौद्धिक ही न हो, किन्तु जिसमे जीवन, मन, चेतना के सभी स्तरो की प्रेरणाएँ सजीव सामंजस्य ग्रहण कर सकें, जिसमे बहिरतर के विरोध एक सक्रिय मानवीय सतुलन मे बँध सकें। हम साहित्यकारो की सृजन-चेतना के लिए उपयुक्त परिवेश का निर्माण करना चाहते हैं, जिससे उनके हृदय का स्वप्न सचरण वास्तविकता की भूमि पर चलना सीख कर स्वय भी बल प्राप्त कर सके और वास्तविकता के निर्मम कुरूप वक्ष पर अपने पद-चिह्नो का सौन्दर्य भी अंकित कर सके। हम परिस्थितियो की चेतना को अधिकाधिक आत्मसात् कर उसके मुख पर मानवीय सवेदना की छाप लगाने तथा उसे मानवीय चरित्र में ढालने में विश्वास करते हैं।

आज के सक्राति-युग मे हम मानवता के विगत गम्भीर अनुभवों, वर्तमान सघर्ष के तथ्यो तथा भविष्य की आशाप्रद सभावनाओं को साथ लेकर, युवकोचित अदम्य उत्साह तथा शक्ति के साथ सतत जागरूक रह कर, नव निर्माण के पथ पर, सब प्रकार की प्रतिक्रियाओं से जूझते हुए असंदिग्ध गति से बराबर आगे

बढना चाहते हैं, जिसके लिए हमारे गुरुजनो के आशीर्वाद की छत्रच्छाया, तथा सहयोगियों की सद्भावना का सबल अत्यन्त आवश्यक है। जिससे हम सब के साथ सत्य-शिव-सुन्दरमय साहित्य की साधना भूमि पर, ज्योति-प्रीति-आनन्द की मगलवृद्धि करते, सुन्दर से सुन्दरतर एव शिव से शिवतर की ओर अग्रसर होते हुए, निरन्तर अधिक से अधिक प्रकाश, व्यापक से व्यापक कल्याण तथा गहन से गहन सत्य का सग्रह करते रहे।

हिन्दी हमारे लिये नवीन सभावनाओ की चेतना है, जिसे वाणी देने के लिये हमे सहस्रो स्वर, लाखो लेखनी तथा करोड़ो कठ चाहिए। उसके अभ्युदय के रूप मे हम अपने साथ समस्त मनुष्य जाति का अभ्युदय पहचान सकेंगे। उसके निर्माण मे सलग्न होकर हम समस्त लोक-चेतना का निर्माण कर सकेंगे। उसको सँवार-शृगार कर हम नवीन मानवता के सौदर्य को निखार सकेंगे। जिस विराट् युग मे हिन्दी की चेतना जन्म ले रही है, उसका किंचित् आभास पाकर यह कहना मुझे अतिशयोक्ति नही लगता कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। एक महान् अन्तर्मूक सगीत के असख्य स्वरो की तरह आज हम समस्त साहित्यकारो, कलाकारो तथा साहित्यिक सस्थाओ का हृदय से अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि हमारे प्राणो भावनाओ तथा विचारो का यह मुक्त समवेत आदान-प्रदान युग मानवता के समागम को तथा मानव हृदयो के सगम को अधिकाधिक सार्थकता तथा चरितार्थता प्रदान कर सकेगा।

धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना आज नवीन सौदर्य चाहती है, वह सौदर्य मानवचेतना के सर्वांगीण जागरण का सौदर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती है, वह पवित्रता मनुष्य के अन्तर्मुख तप तथा बहिर्मुख साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव उर मे विकसित हो रही विश्व-प्रेम की वाणी है। आज की साहित्यिक सस्था मानवता के अन्तरतम सम्मिलन का सृजन तीर्थ है। इस सृजन-तीर्थ पर एक बार मै फिर आप मानव-देवो का हृदय से स्वागत करता हूँ।

कला और संस्कृति

[अभिभाषण का अश]

मै स्वतन्त्र भारत के नवयुवक कलाकारो का स्वागत करता हूँ। मै उनकी आँखो मे सौन्दर्य के स्वप्न, उनके हृदय की धडकन मे सस्कृत भावनाओ का सगीत और उनके सु दर मुखो पर मनुष्यत्व के गौरव की झलक देखना चाहता हूँ।

आप बुद्धिजीवी तथा कलाकार हैं। आपका क्षेत्र भीतर का क्षेत्र है, आपको सूक्ष्म का परिचालन करना है। आपको विकसित मस्तिष्क के साथ सस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है। विकसित मस्तिष्क से मेरा अभिप्राय युग के प्रति प्रबुद्ध, विश्व जीवन की समस्याओ के प्रति जागरूक मन से हैं, और सस्कृत हृदय से मेरा प्रयोजन उस हृदय से है जिसमे राग-द्वेष आदि जैसी विरोधी वृत्तियो मे मनन तथा साधना द्वारा सतुलन आ गया हो तथा जो नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रति उद्‌बुद्ध हो। ऐसा सतुलन साधारण लोकजीवन से ऊँचे ही स्तर पर स्थापित किया जा सकता है और परिस्थितियों की चेतना से ऊपर उठने के लिए एक कला-जीवी सौन्दर्य स्रष्टा को प्रारंभ में स्वस्थ अभ्यासों, उन्नत सस्कारों एव विकसित रुचियो के प्रभावों की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के विन्यास मे जहाँ मनका स्तर है वहाँ एक प्राणों का भी स्तर हे। यह हमारी लालसाओं, आवेगो, प्रवृत्तियों, भावना आशा स्वप्न आदि का स्तर है और यही शक्ति का भी स्तर है। महान् कलाकारों मे स्वभावतः ही प्राण-शक्ति का अधिक प्रवाह तथा प्रसार देखने को मिलता है। यह प्राण शक्ति शीघ्र ही हमारे अभ्यासों तथा रुचियों का स्वरूप धारण कर लेती है। अतः एक कलाकार के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि वह किसी मत या वाद के प्रभाव से अथवा तीव्र राग-विराग के कारण विशेष अभ्यासों की सीमाओं के भीतर न बँध जाय। उसे सदैव मुक्त-हृदय, संवेदनशील तथा ग्रहणशील बना रहना

चाहिए और अपने प्राणा के आवेष्टन को परिष्कृत कर उसे सौन्दर्यग्राही, ऊर्ध्व-गामी बनाकर द्वेप-क्रोध आदि की निम्न वृत्तियो से ऊपर उठाना चाहिए। जिससे उसके प्राणो के प्रवाह मे एक सगीत, सामजस्य, तन्मयता, व्यापकता तथा भिन्न स्वभाव धर्मा मानव समूह के प्रति सौन्दर्य का सचार हो सके।

किसी कलाकृति मे मुख्यत' तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौन्दर्य बोध २)व्यापक गभीर अनुभूति (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कला वस्तु मे लोकोत्तरानददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमे देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य दर्शन मे कितना मार्जन, ऊर्ध्व प्राणता तथा रहस्य सकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुठित नही, और यदि है तो उसका कारण बाह्य उपादानो मे है अथवा अतर के भाव सत्य मे। दूसरा हमे देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति मे कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है। उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामजस्य स्थापित किया ह,—भीतर के जिस दर्पण मे उसने मावन जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है वह चेतना कितनी सूक्ष्म प्रभावग्राही तथा अतल स्पर्शी हे। तीसरा हमे विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक जीवन की भीतरी बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नही। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है, जो व्यक्ति के अतरतम विकास मे भी, अपने युग की सीमाओ के भीतर, सहायता पहुँचाता है तथा लोक समुदाय को भी बल प्रदान करता है।

किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण, मेरी दृष्टि मे, एक और भी वस्तु है जिसके पूरक उपर्युक्त तीनो मान ह। वह है किसी कलाकृति मे पाये जानेवाले सास्कृतिक तत्त्व। अर्थात् जो चेतना, जो प्रकाश, जो सस्कार किसी कलाकृति को पढने पर अज्ञात रूप से आपको प्रभावित कर आपका निर्माण करने मे सफल होते हैं—जिन सूक्ष्म उपादानों का एक कलाकृति सक्रिय वितरण करती है। आज जब कि हम एक सक्राति युग के शिखर पर बैठे हैं जिसके अतस्तल में धरती को आदोलित करनेवाली ज्वालामुखी सुलग रही है, हमे सस्कृतिक मान्यताओ के प्रति सबसे अधिक चैतन्य रहना चाहिए। सस्कृति मानव चेतना का सारपदार्थ है,

जिसमे मानव जीवन के विकास का समस्त सघर्ष नाम रूप गुणो के रूप मे सचित है। जिसमे हमारी ऊर्ध्वगामी चेतना या भावनाओ का प्रकाश, तथा समतल जीवन की, मानसिक उपत्यकाओ की छायाए गुफित है, जिसमे हमे सूक्ष्म और स्थूल, दोनो धरातलों के सत्यो का समन्वय मिलता है। सस्क्रति मे हमारी धार्मिक, नैतिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियो का ही सार भाग नही रहता उसमे हमारे सामाजिक जीवन मे बरते जाने वाले आचार-विचार एव व्यवहारो के भी सौन्दर्य का समावेश रहता है। यदि हम सोचते हैं कि हम इसी क्षणसे एक आमूल नवीन सस्कृति को जन्म दे सकते हैं, तो हम ठीक नहीं सोचते। क्योकि जो सांस्कृतिक चेतना अथवा सौन्दर्य भावना आज हमारे भीतर काम कर रही है उसके ताने बाने मे मानव जीवन की सहस्रो वर्षों की अनुभूतियाँ, सुख दुख, सद्-असद, सत्य-मिथ्या की धारणाएँ, उसका सूक्ष्म ज्ञान जगत्, तथा बहिरतर का समस्त छाया प्रकाश ग्रथित है। जिस प्रकार भाषा एक सगठित सत्य है उसी प्रकार सस्कृति भी। वह स्वभावजन्य गुण नही, विकास क्रम से उपलब्ध वस्तु या सत्य है। मैं कुछ शब्द-ध्वनियो द्वारा, जो हमारी चेतना मे सार्थक रूप से सगठित हैं आपके मन मे कुछ विचारो, भावनाओ एव सवेदनों को जगा रहा हूँ। यदि मै कुछ ऐसी ध्वनियो का प्रयोग करूँ, जिनका हमारे भीतर सार्थक सगठन नही हैं, तो आप उनसे कुछ भी अभिप्राय नहीं ग्रहण कर सकेंगे। इसी प्रकार हमारे सास्कृतिक ज्ञान भी हमारी अतर्चेतना के सगठित गुण हैं। जो हमे सत्य मिथ्या का मान देते हैं और हमारी शिव-अशिव सुदर-असुदर, पाप-पुण्य आदि की भावनाओं से जुड़े हुए हैं। ये सास्कृतिक मान्यताएँ प्राय· हमारी प्राकृतिक स्वभावज लालसाओं तथा ऐंद्रयिक सवेदनो की विरोधी भी होती हैं, हम इन्हें सस्कार कहते हैं।

आप जिस जाति और जिस देश की भी सस्कृति के इतिहास का अध्ययन करें आपको उसमे अत सगठन के नियम मिलेंगे, और उनमे बाह्य दृष्टि के विभिन्नता होने पर भी एक आतरिक साम्य तथा सूक्ष्म एकता मिलेगी। विभेदों का कारण देश-काल की परिस्थितियाँ होती हैं और एकता का आधार समान मानवीय अनुभूति का सत्य। समस्त सत्य केवल मात्र मानवीय

सत्य है, उसके बाहर या ऊपर किसी भी सत्य की कल्पना सभव नहीं है। वनस्पति जीवन पशु जीवन से लेकर—जो मनुष्य चेतना से नीचे के धरातल हैं—स्वर्गलोक के देवताओ और उनसे भी परे का ज्ञान विस्तार केवल मानवीय सत्य है। मनुष्य चाहे बाहर जितनी जातियों, धर्मों और वर्गों मे विभक्त हो, वह भीतर से एक ही है, इसलिए समस्त मानव जीवन के सत्य को एक तथा अखडनीय समझना चाहिए।

यद्यपि हम अतःसगठन के सत्य मे आमूल परिवर्तन नही कर सकते, हम उसके विकास के नियमो का अध्ययन कर उसे विशेष युग मे विशेष रूप से प्रभावित एव परिवर्तित कर सकते हैं तथा उसका यथेष्ट रूपातर भी कर सकते है। हमारा युग एक ऐसा ही सक्राति का युग है। जब कि हमे भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गों और धर्मो की सस्कृतियो का समन्वय एव सश्लेषण कर उन्हे मानव सस्कृति के एक महान विश्व सचरण के रूप मे प्रतिष्ठित करना है। आज हमे मानव चेतना के क्षीर सागर को फिर से मथ कर उसके अतस्तल मे छिपे हुए रत्नों को पहचानना है और मौलिक अनुभूतियो के नवीन रत्नों को भी बाहर निकाल कर अपने युग पुरुष के स्वर्ण शुभ्र किरीट मे उन्हे समय के अनुरूप नवीन सौन्दर्य बोध मे जड़ना है, जिससे वह भावी मनुष्यत्व की गरिमा को वहन कर सके। इसलिये हमारे युग के साहित्यिकों तथा कलाकारो के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है, जिसे हम साहस, सयम, सद्भाव तथा सहिष्णुता से ही पूरा कर सकते हैं।

सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिये हमे व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए। ईश्वर को मानने से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि आप विधिवत् पूजा-पाठ अथवा जप-तप करे। यह तो धर्म का क्षेत्र है और आपके स्वभाव, रुचि तथा नाड़ियो के जीवन से सबध रखने वाली बातें हैं। ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप मै एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अतर्चेतना के सचरणों से भी अपने को सयुक्त रखे, और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियो का उपयोग कर समाज के अतर्जीवन का निर्माण करे। उसके कधों पर वास्तविकता

तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहे।

संक्षेप मे, मै चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सास्कृतिक तत्वो से ओत प्रोत रहे और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज मे नवीन मानव चेतना के आलोक को वितरण करे एव लोक जीवन को बाहर-भीतर से सस्कृत सुरुचिपूर्ण तथा सपन्न बनाने मे सहायक हो। हमारे युग के सास्कृतिक सूत्र है,—मानव प्रेम, लोक जीवन की एकता, जीवन सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व मानवता का निर्माण। यदि आप अपनी लेखनी और तूली द्वारा युग के इन स्वप्नो मे रक्त मास का सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूँक सके तो आप अपने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निबाहेगे जिस प्रकार एक राजनीतिक क्षेत्र का नायक लोक-सघर्ष के उत्थान-पतनो का सचालन कर जीवन की परिस्थितियो को विश्व-तत्र का सतुलन प्रदान कर जन समुदाय को नवीन मानवता की ओर अग्रसर कर रहा है।

कलाकार के पास हृदय का यौवन होना चाहिए, जिसे धरती पर उड़ेल कर उसे जीवन की कुरूपता को सुदर बनाना है। वह सर्वप्रथम सौन्दर्य-स्रष्टा है। कलाकार की सबसे बडी कृति वह स्वय है। जब तक वह अपना बाहर-भीतर से परिमार्जन नही करेगा वह सस्कृति के दिव्य पावक तथा सौन्दर्य के स्वर्गीय आलोक का आदान प्रदान नही कर सकेगा। बेसुरी हृदय वीणा से, जिसके तार चेतना के सूक्ष्म स्पर्शों के लिए नही सधे हैं, अतर के सगीत की वृष्टि कैसे हो सकती है? अतएव आप जो स्वतत्र भारत की चेतना के स्रष्टा हैं आपको अपने को इस महा-प्राण देश के गौरव का वाहक बनाना चाहिए जिससे आप अजलि भर-भर कर संस्कृति के स्वर्णिम पावक-कण जन समाज मे वितरण कर सके। तथास्तु।

साहित्य की चेतना

(एक अभिभाषण का अंश)

मुझसे आप लोग किसी प्रकार के भाषण की आशा न करें, मैं आप लोगों से केवल मिलने आया हूँ। अध्यापन का कार्य मेरा क्षेत्र नहीं है किंतु मैं उसके उत्तरदायित्व को समझता हूँ। अतएव एक साधारण साहित्यसेवी के नाते मैं आपकी उपस्थिति का स्वागत करता हूँ और आप लोगों के साथ साहित्यिक वातावरण में साँस लेने का सुख अनुभव करता हूँ।

आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अंतस्थल में नहीं पैठ सकते, और न उसका महत्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव में मानव जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव जीवन की गंभीर व्याख्या है। उसमें मानव चेतना की ऊँची चोटियों का प्रकाश, मनकी लम्बी चौड़ी घाटियों का छायातप, तथा जीवन की आकांक्षाओं का गहरा रहस्यपूर्ण अंधकार संचित है। उसमें मानव सभ्यता के युग-युग व्यापी संघर्ष का प्रच्छन्न इतिहास तथा मनुष्य के आत्म विजय का दर्शन अनेक प्रकार के आदर्शों, अनुभूतियों, रीति-नीतियों तथा भावनाओं की सजीव संवेदनाओं के रूप में संगृहीत है। यदि साहित्य को पढकर हम मनुष्य जीवन को संचालित करने वाली शक्तियों तथा उनके विकास की दिशा को नहीं समझ सके तो हम वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि आप साहित्य को मनुष्य जीवन के सनातन संघर्ष से कोई विभिन्न वस्तु न समझें बल्कि उसे जीवन के दर्शन अथवा जीवन के दर्पण के रूप में देखें। उस दर्पण में जहाँ आप आत्म-चिन्तन द्वारा अपने मुख को पहचानना सीखें वहाँ अपनी सहानुभूति को व्यापक तथा गंभीर बनाकर उसके द्वारा अपने विश्व-रूप की अथवा मानव के विश्व

दर्शन की भी रूपरेखा का आभास प्राप्त करना सीखें। साहित्य के अध्ययन का अर्थ है रस द्वारा ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान ही शक्ति भी है। अतएव आप जब तक ज्ञान द्वारा शक्ति का सचय नहीं करेंगे तब तक आप युग-जीवन का सचालन भी नही कर सकेंगे, और मानव जीवन के शिल्पी भी नहीं बन सकेंगे। आपको मनुष्य के भीतरी जीवन का नेतृत्व करना है,—साहित्य का क्षेत्र अत-र्जीवन का क्षेत्र है। इसलिए आपको अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आप लोग जो हिन्दी साहित्य द्वारा ही जीवन की प्ररणा प्राप्त करना चाहते हैं आपको यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि आज का साहित्य मानव का नवीन रूप से निर्माण कर रहा है। आज का मनुष्य रेडियो, वाक्‌चित्रों समाचार पत्रों आदि द्वारा समस्त विश्व के मन को धारण तथा वहन कर रहा है। वह विश्व-मन के स्थूल-सूक्ष्म प्रभावो से प्रभावित होकर नवीन रूप से सग-ठित हो रहा है। आज का साहित्य एक देशीय अथवा एक जातीय होकर उन्नति नहीं कर सकता, उसे सार्वभौम बनना ही होगा। आधुनिकतम हिन्दी साहित्य मे आपको जो एक प्रगतिवाद की धारा मिलती हैं उसका वास्तविक संदेश यही है। मानव स्वभाव इतना दुरूह तथा जटिल है और जीवन की परिस्थितियों मे इतना अधिक वैचित्र्य है कि ससार मे कोई भी सिद्धात अथवा वाद बहुमुखी हुए बिना नही रह सकता। प्रगतिवाद भी इससे मुक्त नही है। अतएव प्रगतिवाद के अतर्गत आपको जो एक राजनीतिक सघर्ष से बोझिल विचार तथा भावना-धारा मिलती है उसे प्रगतिवाद का निम्नतम धरातल अथवा अस्थायी स्वरूप समझना चाहिए। अपने स्थायी अथवा परिपूर्ण रूप मे वह एक सास्कृतिक धरातल की सृजनात्मक चेतना है जिसका उद्देश्य विभिन्न सस्कृतियों धर्मों तथा नैतिक दृष्टि-कोणो के विभेदो से मनुष्य की चेतना को मुक्त कर उसे युग परिस्थितियो के अनुरूप व्यापक मनुष्यत्व मे सँवारना है। वे परिस्थितियाँ केवल बाहरी आर्थिक तथा राजनीतिक आधारों तक ही सीमित नही हैं उनका सबध मनुष्य जीवन की अतरतम अनुभूतियों तथा गहनतम विश्वासों से भी है। ये अत-र्विश्वास, जिन्हें आप चाहें आदर्श कहें अथवा नैतिक दृष्टिकोण, पिछले युगों

की आध्यात्मिक तथा भौतिक परिस्थितियो से सबद्ध मानव चेतना के वे अभ्यास है जिनका हमे इस युग मे अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक मनुष्यत्व के रूप मे उन्नयन करना है। इसके लिए सभी देशो के महाप्राण तथा युग प्रबुद्ध साहित्यिक साधना कर रहे हैं। अतएव वह साहित्य जो सप्रति मानव जाति की अतरतम एकता के सिद्धातो से अनुप्राणित है, मानव जाति के विभिन्न श्रेणी वर्गों तथा सप्रदायो के बीच के व्यवधानो को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण, नवीन सौन्दर्य बोध तथा नवीन सास्कृतिक उपादानो का सृजन कर रहा है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव मे इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। ऐसा साहित्य पिछले युगो के समस्त वाड्मय मे जो कुछ भी सग्रहणीय है उसका सम्पूर्ण उपयोग करने के साथ ही उन नवीन जीवन-मानो तथा सूक्ष्म अनुभूतियों पर भी प्रयोग कर रहा है जिनके समावेश से इस युग की भाप, बिजली और अणु शक्ति से अति सक्रिय परिस्थितियाँ एक सार्वभौम मानवीय सौन्दर्य से विभूषित हो सकें तथा उनमे एक व्यापक सामाजिक सामजस्य स्थापित हो सके।

आज के साहित्य के विद्यार्थी को अपने युग की चेतना के शिखर पर खड़ा होकर पिछले युगो की ऊँची-नीची तलहटियों तथा सकीर्ण अँधेरी घाटियो पर दृष्टिपात करना चाहिए तथा उनके अनेक छायाओं से भरे हुए सौन्दर्य का निरीक्षण कर, उनके भावनाओ तथा विचारो के ऋजु कुचित नद निर्झरों का कलरव श्रवण कर, उनके तरह-तरह की राग विराग की सवेदनाओ से उच्छ्वसित वातावरण को साँसो से हृदय मे भरकर मानव सभ्यता के सघर्ष सकुल विकास का मानचित्र बनाना चाहिए। जिससे भिन्न-भिन्न युगो के आदर्शों और वादो को यथास्थान सयोजित कर वह मानव चेतना के इतिहास का यथोचित अध्ययन कर सके और उसके भविष्य के गौरव का अनुमान लगा सके। इसी प्रकार की साहित्य-साधना मे मैं आपको अश्रात रूप से तत्पर देखना चाहता हूँ। साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्वरूप भी होता है, उसका भी अपना एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखको के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियो

साहित्यिक प्रथाओ, प्रचलनो, तथा छदो अलकारो का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरो का, उसके सा रे ग म का ज्ञान है, जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूपविधान पहनाते हैं, और उसके सौन्दर्य से हृदय का प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण अथवा स्थूल स्वरूप कह सकते हैं। भाव और भाषा में भाव को ही प्रधानता देनी चाहिए किंतु इसका यह तात्पर्य नही कि भाषा के प्रति हमे विरक्त हो जाना चाहिए। चेतना तथा पदार्थ की तरह भाव तथा भाषा ऐसे अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भले ही की जा सके किंतु अभिव्यक्ति असभव है। भावना की चेतना के साथ ही इस युग मे भाषा के सौन्दर्य मे भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गई है। ध्वनि, व्यजना तथा प्रतीको का प्रयोग बढता जा रहा है। एव भिन्न-भिन्न साहित्यो के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य विन्यास तथा अलकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं। पर इन पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालना अध्यापको का काम है और मुझे विश्वास है कि आप साहित्य के उस अग को भी उपेक्षा की दृष्टि से नही देखेगे।

अत मे एक हिन्दी साहित्यसेवी के नाते मैं आपके प्रति अपनी शुभ कामनाएँ तथा सद्भावनाएँ प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी साहित्य शीघ्र ही मानव की नवीन चेतना को वाणी देकर अपने प्रमियो को अधिक से अधिक मानसिक वैभव प्रदान कर सकेगा, उनके हृदयो मे व्यापक मनुष्यत्व का स्पदन, उनके पलको मे नवीन सौन्दर्य के स्वप्न भर सकेगा तथा आज के साहित्य के विद्यार्थी कल के सत्य द्रष्टा तथा सौन्दर्य स्रष्टा बन सकेंगे।

मेरी पहिली कविता

जहाँ तक मुझे स्मरण है मेरी पहिली कविता मे कोई विशेपता नही थी, जैसे-जैसे मेरे मन का अथवा मेरो भावना या चेतना का विकास हुआ और मेरा जीवन का अनुभव गभीर होता गया, मेरी कविता मे भी निखार आता गया।

मेरी पहिली कविता एक न होकर अनेक थीं। अपने किशोर मन के आवेग और उत्साह को अथवा कविता के प्रति अपने नवीन आकर्षण को 'ताल और लय' मे बाँधने की आकुलता मे मै अनेक छदों मे अनेक पद साथ ही लिखा करता था। किसी छद मे चार चरण और किसी मे आठ या बारह चरण लिखकर मेरा सद्य.स्फुट काव्य प्रम मेरी अस्फुट भावना को अनेक रूपों मे व्यक्त कर सतुष्ट होता था। इस प्रकार के मेरे समस्त प्रारभिक किशोर प्रयत्न मेरी पहिली कविता कहे जा सकते है क्योंकि उन सबका एक ही विषय होता और उनमे एक ही भावना और प्राय एक ही प्रकार के मिलते-जुलते शब्द रहते थे जो केवल विभिन्न छदो और तुको के कारण अलग-अलग रचना खड प्रतीत होते थे। उदाहरण स्वरूप हमारे घर के ऊपर एक गिरजाघर था जहाँ प्रत्येक रविवार को सुबह-शाम घटा बजा करता था। यह अल्मोड़े की बात है, और जैसा कि पहाडी प्रदेशो में प्रायः हुआ करता है हमारा घर नीचे घाटी मे था और गिरजाघर ऊपर सड़क के किनारे। गिरजे के घटे की ध्वनि मुझे अत्यन्त मधुर तथा मोहक प्रतीत होती थी। गिरजे के घंटे पर मैने प्राय॰ रविवार के दिन अनेक छदो मे अनेक कविताए लिखी हैं जिन्हें प्रयत्न करने पर भी अब मै स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। उन सब रचनाओं मे प्रायः यही आशय रहता था कि "हम लोग बेखबर सोए हुए हैं। यह दुनियाँ एक मोह निद्रा है जिसमें हम स्वप्नों की मोहक गलियो मे भटक रहे हैं। गिरजे का घटा अपने शात मधुर आह्वान से हमे जगाने की चेष्टा कर रहा है और हमे प्रभु के मदिर की ओर बुला रहा है जहाँ दुनियाँ की मोह-निशा का उज्ज्वल प्रभात हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वरीय प्रेम का जीवन ही केवल मात्र पवित्र

जीवन् है। प्रभु ही हमे पापों से मुक्ति प्रदान कर सकते है" इत्यादि। अल्मोडे मे पादरियो तथा ईसाई धर्म प्रचारको के भाषण प्रायः ही सुनने को मिलते थे, जिनसे मै छुटपन मे बहुत प्रभावित रहा हूँ। वे पवित्र जीवन व्यतीत करने की बाते करते थे और प्रभु की शरण आने का उपदेश देते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। गिरजे के घटे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर मैने जितनी रचनाएँ लिखी हैं उन सब मे इन्ही पादरियो के उपदेशो का सार भाग किसी न किसी रूप मे प्रकट होता रहा है। 'गिरजे का घटा' शीर्षक एक रचना मैने अपने आत्म विश्वास तथा प्रथम उत्साह के कारण श्री गुप्त जी के पास भेज दी थी, जिन्होंने अपने सहज सौजन्य के कारण उसकी प्रशसा मे दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया था।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मेरे भाई एक बार अल्मोड़े मे किसी मेले से कागज के फूलो का एक गुलदस्ता ले आए, जिसे उन्होने अपने कमरे मे फूलदान मे रख दिया था। मै जब भी अपने भाई के कमरे मे जाता था कागज के उन रग-बिरगे फूलों को देखकर मेरे मन मे अनेक भाव उदय हुआ करते थे। मै बचपन से ही प्रकृति की गोद मे पला हूँ। कागज़ के वे फूल अपनी चटक-मटक से मेरे मन मे किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं जगा पाते थे। मै चुपचाप अपने कमरे मे आकर अनेक छदो में अनेक रूप से अपने मन के उस असतोष को वाणी देकर कागज़ के फूलों का तिरस्कार किया करता था। अत मे मैने सुस्पष्ट शब्दों मे अपने मन के आक्रोश को एक चतुर्दशपदी मे छदबद्ध करके उसे अल्मोड़े के एक दैनिक पत्र मे प्रकाशनार्थ भेज दिया जिसका आशय इस प्रकार था "हे कागज़ के फूलों, तुम अपने रूप-रग मे उद्यान के फूलो से अधिक चटकीले भले ही लगो पर न तुम्हारे पास सुगध है, न मधु। तुम स्पर्श को भी तो वैसे कोमल नहीं लगते हो। हाय, तुम्हारी पखडियाँ कभी कली नही रही न वे धीरे-धीरे मुसकुराकर किरणों के स्पर्श से विकसित ही हुई। अब तुम्हीं बतलाओ तुम्हारे पास भ्रमर किस आशा से, कौन सी प्रेम-याचना लेकर मँडराए? क्या तुम अब भी नहीं समझ पाए कि झूठा, नकली और कृत्रिम जीवन व्यतीत करना कितना बड़ा अभिशाप है? हृदय के

आदान प्रदान के लिये जीवन मे किसी प्रकार की तो सच्चाई होनी चाहिए। इत्यादि . . ।

एक और उदाहरण लीजिए · मेरे फुफेरे भाई हुक्का पिया करते थे। सुबह-शाम जब भी मै उनके पास जाता उन्हे हुक्का पीते पाता था। उनका कमरा तम्बाकू के धुए की नशीली गध से भरा रहता था। उन्हे धुआँ उड़ाते देखकर तम्बाकू के धुए पर मैने अनेक छद लिखे हैं, जिनमे से एक रचना अल्मोडे के दैनिक मे प्रकाशित भी हुई है। इस रचना की दो पक्तियाँ मुझे स्मरण हैं जो इस प्रकार है—

सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय मे
रखते, जहाँ बसे हैं भगवान विश्वस्वामी।

इस रचना मे मैने धुए की स्वतत्रता का प्रेमी मानकर उसकी प्रशसा की थी। आशय कुछ-कुछ इस प्रकार था '—"हे धूम ! तुम्हें वास्तव मे अपनी स्वतत्रता अत्यन्त प्रिय है। मनुष्य तुम्हे सुगधित सुवासित कर, तुम्हे जल से सरस शीतल बनाकर अपने हृदय मे बदी बना कर रखना चाहता है, उस हृदय मे जिसमे भगवान का वास है। किन्तु तुम्हे अपनी स्वतत्रता इतनी प्रिय है कि तुम क्षण भर को भी वहाँ सिमट कर नही रह सकते और बाहर निकल कर इच्छानुरूप चतुर्दिक व्याप्त हो जाना चाहतें हो। ठीक है, स्वतन्त्रता के पुजारी को ऐसा ही होना चाहिए, उसे किसी प्रकार का हृदय का लगाव या बधन नही स्वीकार होना चाहिए . ...इत्यादि।

इस प्रकार अपने आस-पास से छोटे मोटे विषयो को चुन कर मै अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना मे तल्लीन रहा हूँ। मेरे भावना तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व एव अविकसित रहे ही होगे किन्तु उन्हें छन्दबद्ध करने मे तब मुझे विशेष आनन्द मिलता था। छन्दों क मधुर सगीत ने मुझे इतना मोह लिया था कि मैने अनेक पत्र भी उन दिनो छन्दो ही मे गूँथ कर लिखे हैं। यदि प्रारम्भिक रचनाओ के महत्व के सम्बन्ध मे तब थोड़ा भी ज्ञान मुझे होता तो मै उन कविताओ तथा पत्रों की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य सुरक्षित रखता। अब मुझे इतना ही स्मरण है कि अपने पास-पड़ोस और दैनदिन की

परिस्थितियो एव घटनाओ से प्रभावित होकर ही मेरी प्रारम्भिक रचनाए निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना को भाषा की अस्पष्ट तुतलाहट मे बॉध कर मै अपने छन्द-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ। एक प्रकार से आरम्भ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारो ओर धूलि की ढेरी मे अनजान बिखरे पड़े मिले हैं।

वैसे एक प्रकार से मै अल्मोडे आने से और भी बहुत पहिले छन्दो की गलियो मे भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ। तब मै अपने पिता जी के साथ कौसानी मे रहता था और वही ग्राम पाठशाला मे पढता था। मेरे फुफेरे भाई तब वहॉ अध्यापक थे और मेरे बडे भाई बी० ए० की परीक्षा दे चुकने के बाद स्वास्थ्य सुधारने के लिए वहॉ आये हुए थे। मेरे बडे भाई भी उन दिनो कविता किया करते थे। उनके अनेक छन्द मुझे अब भी कठस्थ है। वह अत्यन्त मधुर लय मे राजा लक्ष्मण सिह कृत मेघदूत के अनुवाद को भाभी को सुनाया करते थे। शिखरिणी छन्द तब मुझे बड़ा प्रिय लगता था और मै, "सखा तेरे पी को जलद प्रिय मै हूँ " आदि पक्तियो को गुनगुना कर उन्ही के अनुकरण मे लिखने की चेष्टा करता था। कभी-कभी मै भाई साहब के मुँह से कोई गजल की धुन सुन कर उस पर भी लिखने की कोशिश करता था। लेकिन अब मै निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी तब की रचनाओं मे छन्द अवश्य ही ठीक नहीं रहता होगा और मै बाल्य-चापल्य के कारण छन्द की धुन मे बहुत कुछ असम्बद्ध और बेतुका लिखता रहा हूँगा। मुझे स्मरण है, एक बार भाई साहब को मेरी पीले कागज की कापी मिल गई थी और उन्होंने मेरे गजलो की खूब हँसी उडाई थी। अतएव उस समय की कविता को मै अपनी पहिली कविता नहीं मान सकता।

व्यवस्थित एव सुसबद्ध रूप से लिखना तो मैने पॉच-छः साल बाद अल्मोड़ा आकर ही प्रारम्भ किया। तब स्वामी सत्यदेव आदि अनेक विद्वानो के व्याख्यानो से अल्मोड़े मे हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो चुका था, नगर मे शुद्ध साहित्य समिति के नाम से एक वृहत् पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी, और नागरिकों का मातृभाषा के प्रति आकर्षण विशेष रूप से

अनुराग मे परिणत हो चुका था। मुझे घर मे तथा नगर मे भी नवोदित साहित्यिको, लेखको एव कवियों का साहचर्य सुलभ हो गया था। मैने हिन्दी पुस्तको का सग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था, विशेष कर काव्य-ग्रन्थो का, और 'नदन पुस्तकालय' के नाम से घर मे एक लाइब्रेरी की भी स्थापना कर दी थी। इसमे द्विवेदी युग के कवियो की रचनाओ के अतिरिक्त मध्य युग के कवियो के ग्रन्थ, तथा प्रेमचद जी के उपन्यासो के साथ बगला, मराठी आदि उपन्यासो के अनुवाद भी रख लिये थे और कुछ पिगल अलङ्कार आदि काव्यग्रन्थ भी जोड लिये थे। सरस्वती, मर्यादा आदि उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाएँ भी मेरे पास आने लगी थी और मैने नियमित रूप से हिन्दी साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया था।

आदरणीय गुप्त जी की कृतियों ने और विशेषकर भारत-भारती, जयद्रथ बध तथा विरहिणी ब्रजागना ने तब मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया था। प्रिय प्रवास के छन्द भी मुझे विशेष प्रिय लगते थे। 'कविता कलाप' को मै कई बार पढ गया था। सरस्वती मे प्रकाशित मकुटधर पाडेय जी की रचनाओ मे नवीनता तथा मौलिकता का आभास मिलता था। इन्ही कवियो के अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ मे मेरी काव्य साधना का श्रीगणेश हुआ और मैने सुसङ्गठित रूप से विविध प्रकार के छन्दो के प्रयोग करने सीखे। छन्दो की साधना मे मुझे विशेष परिश्रम नही करना पड़ा। श्रवणों को सङ्गीत के प्रति अनुराग होने के कारण तथा लय को पकड़ने की क्षमता होने के कारण सभी प्रकार के छोटे-बडे छन्द धीरे-धीरे मेरी लेखनी से सरलता पूर्वक उतरने लगे। जो भी विषय मेरे सामने आते और जो भी विचार मन मे उदय होते उन्हें मै नये-नये छन्दों मे नये-नये रूप से प्रकट करने का प्रयत्न करता रहा। काव्य साधना मे मेरा मन ऐसा रम गया कि स्कूल की पाठ्य-पुस्तको की ओर मेरे मनमे अरुचि उत्पन्न हो गई और मैने खेल-कूद मे भी भाग लेना बन्द कर दिया। इन्ही दिनों अल्मोड़े के हाई स्कूल मे पढने के लिए एक नवयुवक आकर हमारे मकान में रहने लगे जिन्हें साहित्य से विशेष अनुराग था। उनके संपादन में हमारे घर से एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकलने लगा जिसमे नियमित

रूप मे दो एक वर्ष तक मेरी रचनाए निकलती रही। उनके साहचर्य से मेरे साहित्यिक प्रेम को प्रगति मिली और नगर के अनेक नवयुवक साहित्यिको से परिचय हो गया। मेरे मित्र अनेक प्रकाशको के सूचीपत्र मगवाकर पुस्तको तथा चित्रो के पार्सल मँगवाते और उन्हे हम लोगो से बेचा करते थे। इस प्रकार उनकी सहायता से हिन्दी की अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन सस्थाओ तथा उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तको का मेरा ज्ञान सहज ही बढ गया।

हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मदक्रान्ता, शिखरिणी आदि छन्दो मै मैने प्रारम्भ मे अनेकानेक प्रयोग किये है। और छोटे-बडे अनेक गीतो मे प्रकृति-सौदर्य का चित्रण भी किया है। प्रकृति-चित्रण के मेरे दो-एक गीत सभवत 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका म भी प्रकाशित हुए हैं। 'भारत-भारती' के आधार पर अनेक राष्ट्रीय रचनाए तथा 'कविता कलाप' के अनुकरण मे राजा रवि वर्मा के तिलोत्तमा आदि चित्रो का वर्णन भी अपने छन्दो मे मैने किया ह। अनेक पत्र तथा कल्पित प्रेम-पत्र लिखकर भी, जो प्रायः सखाओ के लिये होते थे, मैने अपने छदो के तारो को साधा है। अपने प्रारम्भिक काव्य साधना काल मे, न जाने क्यो, कविता का अभिप्राय मेरे मन मे छदबद्ध पक्तियो तक ही सीमित रहा है। छदो मे सगीत होता है यह बात मुझे छदो की ओर विशेष आकृष्ट करती थी और अनुप्रासो या ललित मधुर शब्दों द्वारा छदों मे सगीत की झकारे पैदा करने की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से रहता था। कविता के भाव पक्ष से मै इतना ही परिचित था कि कविता मे कोई अद्भुत या विलक्षण बात अवश्य कही जानी चाहिए। कालिदास की अनोखी सूझ की बात मै अपने भाई साहब से बहुत छुटपन मे ही सुन चुका था, जब वह भाभी को मेघदूत पढ़ाया करते थे। किन्तु उस विलक्षण भाव को सगीत के पख लगाकर छद मे प्रवाहित करने की भावना तब मुझे विशेष आनन्द देती थी और मै अपनी छद-साधना मे इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ से ही नहीं भूला हूँ।

मेरी उस प्रारम्भिक काल की रचनाए, जिन्हें मै अपनी पहिली कविता कहता हूँ, न जाने, पतझर के पत्तो की तरह मर्मर करती हुई, कब और कहाँ

उडकर चली गई, यह मै नही कह सकता। अपनी बहुत सी रचनाए काशी जाने से पहिले मै अल्मोडे ही मे छोड़ गया था जो मुझे घर की अव्यवस्था के कारण पीछे नही मिली। सभव है उन्हे कोई ले गया हो या किसी ने रद्दी कागजो के साथ फेंक दिया हो या बाजार भेज दिया हो। वीणा-काल से पहिले के दो कविता सग्रह, जब मै हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस मे रहता था, मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण, जल कर राख हो गये थे। कीट्स और शेली के दो सचित्र सग्रह भी, जो मुझे प्रो० शिवाधार पाडेय जी ने पढने के लिये दिये थे, उनके साथ ही भस्म हो गये। अपने उन दो सग्रहो के जल जाने का दुःख मुझे बहुत दिनो तक रहा। उनमे मेरी काव्य-साधना के द्वितीय चरण की रचनाए थी। मेरी आँखो मे अब उन अस्फुट प्रयासो का क्या महत्व होता यह तो मै नही कह सकता, पर ममत्व की दृष्टि से वे मुझे अपनी प्रारम्भिक काव्य साधना के साक्षी के रूप मे सदैव प्रिय रहते, इसमे मुझे सदेह नही। अपने कवि जीवन के प्रथम उषाकाल मे स्वर्ग की सुन्दरी कविता के प्रति मेरे हृदय मे जो अनिवर्चनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था, उसका थोड़ा-सा भी आभास क्या मै इस छोटी-सी वार्ता मे दे पाया हूँ ? शायद नही।